मार्गका विरोधी है। किसी भी प्रकारका शिथिलाचार उस मे जगह नहीं पा सकता। शिथिलाचारी गुरुओंके हाथमे जिस समय जैनधर्मकी रक्षाकी बागडोर पड़ गई थी उस समय कुछ शिथिलाचार अवश्य जारी हो गया था परन्तु विद्वान व्यक्तियोंके प्रभावसे उसका पूर्ण प्रचार न हो सका। उस समय के लोगोंने शिथिलाचारकी कुछ बातें ग्रन्थोंके रूपमें परिणित कर दीं परन्तु वे ग्रन्थोंमें ही पड़ी रहीं। इन्हें कार्य रूपमें परिणत करनेके लिए किसीका साहस न हो सका परन्तु जिन महानुभावों ने शिथिलाचारकी बातोंको ग्रंथ रूपमे परिणित किया था। उन्हें दूरदर्शी अवश्य कहना पड़ेगा क्योंकि उन्होंने यह अवश्य ही निश्चय करलिया होगा कि सौ दोसौ वर्ष बीतनेपर इन बातो का अवश्य आदर होगा। जिन बातोंको आज लोग नहीं मानते वे आगे जाकर जैन शास्त्रोंमें लिखी रहनेके कारण आप्त वचन मानी जाने लगेंगी उस समय ऐसे भी लोग जैन समाजमें जन्म लेंगे जो इन बातोको आप्त वचन सिद्ध करनेकी पूरी पूरी चेष्टा करेंगे क्यों कि उनका यह विचार पक्का था कि पुरानी होनेपर ही ये बातें लोगोंकी श्रद्धाभाजन बन जायगी।

चर्चासागरकी रचना शिथिलाचारी गुरुओंके शिथिलाचार प्रचारार्थ ही हुई थी क्योंकि पांडे चम्पालालजी विशेष विद्वान न थे परन्तु शिथिलाचारी भट्टारकोंके पक्के शिष्य थे। इसलिए चर्चासागरमें शिथिलाचारकी बातोंका उन्होंने खूब ही समर्थन किया है यही नहीं शिथिलाचारी प्रथाके प्रचारार्थ उन्होंने मूलसंघके आचार्योंके भी वचनोंको अशुद्ध गढ़ डाला है।

यह ग्रंथ जब तक भंडारोंमें पड़ा था लोगोंने इसकी छान-बीन नहीं की थी। कुछ विद्वानोंने इसे देखा भी था तो उन्हें यही कहना पड़ा कि यह ग्रंथ भ्रष्ट ग्रंथ है इसे न देखना चाहिये। सर-नऊ जि० एटा निवासी पद्मावतीपुरवाल जातीय पूज्य प० जिनेश्वरदासजीसे जैन जनता भले प्रकार परिचित हैं। पण्डितजी जैन सिद्धांतके अच्छे जानकार थे और अच्छे कवि थे उनके पद लोग बड़ा रुचिसे गाते हैं। उन्होंने अपना बहुभाग समय मार-वाडमें बिताया था। अनेक शिष्योंको ज्ञान दान दे मारवाड़मे जैन धर्मकी अपूर्व जागृति की थी अंतिम समय वे कुचामणकी पाठशालाके अध्यापक थे उन्होंने यह ग्रंथ देखा था और देखते ही कह दिया था कि यह ग्रंथ भ्रष्ट ग्रंथ है। मूल संघकी आम्नायको मलिन करने वाला है इसका स्वाध्याय करना पाप हैं पण्डितजीके मुखसे यह बात सुनने वाले अब भी कई व्यक्ति हैं। परन्तु जबसे इस ग्रंथका प्रकाशन हुआ है इसे देखते ही धर्म भीरु जनता खलबला उठी हैं और इसके विषयमें अनेक ऊहापोह होने लगीं हैं क्योंकि इसमे अनेक विषय ऐसे है जो प्राचीन जैन शास्त्रोंमें अथवा आम्नाय परिपाटीमें देखे सुने हो नहीं गये। हिंदू धर्ममें जो बातें मानी जाती हैं तथा जिनको जैनी लोग मिथ्या कहते है उन्हींकी इसमें पुष्टि कीगई हैं

चर्चासागरके प्रकाशित होतेही सारे जैन संसारमें उसके विरोध कीचर्चा फैलगई। कलकत्ता शहरभी अपनेको इस चर्चासे अलग न रख सका स्थानीय विद्वानोंने उसका उचित समाधान भी देदिया।

परंतु उसी समय पण्डित मक्खनलालजीका पधारना पर्यूषणपर्वमें कलकत्ता होगया लोगोंने पण्डितजीके समक्ष भी चर्चासागरकी धर्म विरुद्ध बातें रक्खी और उनका शास्त्रोक्त समाधान चाहा किन्तु पण्डितजीने उस समय एक विलक्षण ही रूप धारण कर लिया; किसी बातका भी समाधान उनसे बन न पड़ा। जिन लोगोंने पण्डितजीसे चर्चासागरकी धर्मविरुद्ध बातोंकी चर्चा चलाई। पण्डितजीने उन्हें सुधारक विधवा विवाहका पोषक आदि कह कर चुप करना ही अपनी पण्डिताईकी शोभा समझी। भाई रतनलालजी झांझरी उस समय इस विषयमें विशेष प्रयत्नशील थे। पंडितजी उन्हींपर टूट पड़े समक्ष में भी उनसे मन चाहा कहा और अपने ट्रैक्टमें भी गाली गलौज करनेमें चूक नहीं की है।

एक दिन मुझे भी पंडितजीके साथ चर्चा करनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया था यदि पंडितजीके अन्दर कुछ भी समझदारी होती तो चर्चासागरकी बातोंका वहीं निपटारा हो जाता परंतु पंडितजीका पारा उस समय मिथ्या हठ और कदाग्रहसे इतना गरम था कि वे मेरे साथ बात करनेमें भीअपनी तोहीनी समझते थे। जिससमय वे चर्चासागरकी पुष्टिमें अनाप सनाप बोल रहे थे मुझसे वह न सुना गया और पंडितजीके साथ उस समय मैंने बोलना ही उचित समझा। उस समय पण्डितजीसे चर्चासागर की धर्म विरुद्ध बातोंकी पुष्टिमें एक भी प्रमाण न दिया जा सका उस दिन उनके साथ मेरी ४ घंटे तक बातें हुईं परन्तु कुछ भी

सार न निकला। पण्डितजो ४–५ दिन और भी कलकत्ता ठहरे। ग्रंथ देख कर उन्होंने प्रमाणोंकी भी खोज की परन्तु समक्षमें बैठ कर वे प्रमाण न दे सके। मैंने बराबर पंडितजीसे कहलवाया कि इस बातका निपटारा यहीं बैठकर करलेना ठोक हैं, इस विषयको आगे बढ़ाना ठोक नहीं परन्तु पंडितजीने इस बातपर जरा भी ध्यान न दिया उल्टा मुझे अपना शत्रु समझा। कलकत्ता समाज इस बातको अच्छी तरह जानती है। यह बात निश्चित है यदि धर्म बुद्धिकी भावनासे यह बात यहीं निपट जाती तो समाजमें इतना तहलका भो न मचता और न जन धनकी शक्ति का इस प्रकार नाश होता। इसलिये यही कहना होगा कि इस समय चर्चासागरको लेकर जो भी जैन समाजमें कलह उठी हैं उसके प्रधान कारण प० मक्खनलालजो हो हैं। क्योंकि सबसे प्रथम यह आदोलन कलकत्तासे उठा था और पंडितजी यहाँपर मौजूद थे वे धर्म बुद्धिसे यहांके विद्वानोंसे विचार विमर्श कर-लेते तो यह आंदोलन आगे न बढ़ता।

खैर पहिली भूल जो हुई सो तो पंडितजोसे हो गई। परन्तु दूसरी भूल उनसे यह हुई कि उन्होंने चर्चासागर पर शास्त्रीय प्रमाण यह ट्रेक्ट प्रकाशित कर डाला और उस दबी हुई बातको फिरसे उभाडकर जैन समाजको क्षुब्ध कर दिया यह बहुत ही भूलहुई यदि यहट्रेक्ट धर्मरक्षार्थ होता और इसमें जो प्रमाण दियेहैं वे मान्य आचार्योंके ठीक २ होते तथा जिन धर्म विरुद्ध बातोंका इसमें उल्लेख हैं उन्हें धर्म विरुद्ध हो बताया जाता तो इस ट्रेक्ट

के उत्तरकी कोई आवश्यकता नहीं थी परंतु इसमें भ्रष्ट ग्रंथोंके प्रमाण देकर इन धर्म विरुद्ध बातोंको पोषा गया है। मान्य प्राचीन आचार्योंके जो प्रमाण दिये हैं उनका विपरीत अर्थ समझाया गया हैं जिससे दि० जैन धर्म पर बड़ा भारी लांछन लगता है क्योंकि जैनधर्ममे इन शिथिलचारी धर्म विरुद्ध बातोंका समावेश नहीं हो सकता। इसी बातको ध्यानमें रखकर पंडितजीके ट्रेक्टका उत्तर देना उचित समझागया हैं। यह जो पंडितजीके ट्रेक्टके खंडनमें यह ट्रेक्ट लिखा हैं उससे पाठक समझलेवें कि पंडितजीने जैन धर्मको मलिन बनानेके लिये कितना अर्थका अनर्थ किया हैं जो हो पंडितजीके इन कार्योंसे स्पष्ट है कि इस समय चर्चासागरके सम्बन्धसे जो समाजमें वैमनस्य फैला है उसके मूल कारण पं० मक्खनलालजी ही हैं अपनेको बहुत बड़ा विद्वान् मान अहंकारके वश होकर उन्होंने यह कार्य किया हैं।

इस ट्रेक्टके लिखनेकी आवश्यकता

चर्चासागरके पक्षपाती हमारे ऊपर यह लांछन लगा सकते हैं कि चर्चासागरका आंदोलन प्रायः दब चुका था। यह ट्रेक्ट निकाल कर फिरसे उसे प्रोत्साहित करना अनुचित हैं। इसका उत्तर यह है कि पं० मक्खनलालजीके ट्रेक्टसे लोगोंकी यह धारणा हो चुकी थी कि चर्चासागरकी बातें शास्त्रोक्त हैं। उस धारणाके दूर करनेके लिये इस ट्रेक्टका प्रकाशित करना परमावश्यक समझा गया क्योंकि पं० मक्खनलालजीके ट्रेक्टका खंडन

न प्रकाशित होनेसे पवित्र दि० जैनधर्मको निर्मलतामें बट्टा लगता था।

दूसरे पं० मक्खनलालजीने जगह २ अपने ट्रैक्टमें इस बात का उल्लेख किया है कि "यह चर्चासागरका आन्दोलन धर्म-विरोधी सुधारकोंका चलाया हुआ है-वे लोग जैनधर्मको बदनाम करना चाहते हैं" परन्तु इतने लम्बे समयकी प्रतीक्षामें हमें यह निश्चित होगया है कि इस आन्दोलनमें सुधारकोंका कोई हाथ नहीं। समाजके कर्णधार धर्मात्मा श्रीमान और विद्वान एक स्वरसे चर्चासागरके विरोधी हैं। चर्चासागरके विरोधमें जगह जगह सभायें और उनकी सम्मतियां जो समाचार पत्रोंमें प्रकाशित हुई हैं उनसे यह बात भली भांति स्पष्ट है। पं० मक्खन-लालजीसे जब उत्तर नहीं बनता तो वे ऐसा ही जाल रचते हैं परन्तु सुधारकोंको चर्चासागरका विरोधी जो उन्होंने बताया है यह जाल उनका यहां नहीं चलसकता चर्चासागर और प० मक्खनलाल जीके भ्रष्टट्रैक्टसे जो धार्मिक जनताको जो नितान्त कष्ट हुआ है और इन भ्रष्ट बातोंके खण्डनार्थ ट्रैक्ट निकालनेकी उनकी अबतक प्रेरणा जारी है इसीलिये यह ट्रैक्ट प्रकाशित किया जा रहा है।

तीसरे चर्चासागरका आन्दोलन बन्द था यह भी चर्चासागरके पक्षपातियोंका कहना, कुछ तथ्य नहीं रख सकता। कारण जैन-बोधक पत्रमें बराबर चर्चासागरकी पुष्टिमें उल्लेख रहता है पूज्य पं०माणिकचन्दजी,मेराऔरभाई रतनलालजीकानाम देकर सदा वह

अपनी उदर पूर्ति करता रहता है। इस बातका तो वह कई बार उल्लेख कर चुका है कि मोरेना विद्यालयसे पं० मक्खनलालजीने पं० माणिकचंदजीको निकलवा दिया था इसलिये वे मक्खनलाल जीसे दुश्मनी मानते हैं गजाधरलालको भा० जैन सि० प्र० संस्थासे निकलवा दिया था इस रूपसे वे मक्खनलाजीके बैरी बन गये हैं।" लेखकके कहनेसे यही ज्ञान पड़ता है कि अब पं० मक्खनलालजी ही हमारे भाग्य विधाता हो गये। आश्चर्य यह है उन नीच आक्रमण परिपूर्ण पंक्तियोंका लेखक अपना नाम देनेसे भी घबड़ाता है फिर तो उस आक्रमणके जिम्मेवार सम्पादक महोदय ही हो सकते हैं जो कि उनके लिये ऐसा कार्य शोभा नहीं देता इसका उत्तर विशेष न देकर हमें यही कहना है कि मेरे निकल जानेपर भा० जैन० सि० प्र० संस्था कौडियों के मोलकी होगई है मेरे हाथमें जब उसका कार्य था तब उसकी यौवनावस्था विकसित होती चली जाती थी। जिस लेखकने यह नीच आक्रमण किया है यदि उसे कुछ भी लिहाज हो तो वह संस्थाको पुनः उसी रूपमें कायम करनेका प्रयत्न करे पं० मक्खनलालजीने भी इसझूठे नीचाक्रमणका प्रतिवाद नहीं किया है इससे यही ज्ञान पड़ता है इस नीचाक्रमणमें उनका भी पूर्ण हाथ है तब कमसे कम उन्हें तो संस्थाकी दुर्दशासे दुःखित होना चाहिये जबतक संस्थामें रकम रही, खूब लूटी। जब वह पूरी हुई उधर पण्डितजीकी दूकानका काम भी चलना बन्द हुआ सब लहलहाते हुए मोरेना विद्यालय रूपी सुन्दर

बगीचेमें वे जा घुसे और विना झंझाटोंके गुलछर्रे उड़ाने लगे। ऐसा करनेमें बुद्धिमानो नहीं। पूज्य पण्डित माणिकचांदजीसे वर्षों पढ़कर भी उनके विषयमें नीचाक्रमण देख पं० मक्खनलाल जीका चुप रहना गुरुद्रोहीपना है परन्तु क्या किया जाय आश्रित की लाचारी है। ऐसे प्रचारसे विद्वत्ताकी समानता नहीं सिद्ध हो सकती इतना ही नहीं समय२ पर यह भी प्रचार किया गया कि "पं० मक्खनलालजीके ट्रेक्टका कोई जवाब नहीं बन सकता। उनके ट्रेक्टके खण्डनमें कोई ट्रेक्ट लिखा आ रहा है यह धोखेबाजी की जारही है इत्यादि घटनाओंने भी इस ट्रेक्टके प्रकाशित करनेकेलिये बाध्य बनादिया इसीलिये इसका प्रकाशन करना पडा। पाठक पूर्ण विचारके साथ इसे पढ़ें। उन्हें मालूम हो जायगा कि चर्चासागरकी पुष्टिमें पं० मक्खनलालजीने कितना अनर्थ किया है और असली बात क्या है यद्यपि कुछ उद्दण्ड व्यक्ति हमारे इस ट्रेक्टपर भी ऊटपटांग लिखेंगे अपनी कषाय वासना पुष्ट करेंगे परन्तु उनकी परीक्षा पाठक स्वयं कर लेंगे।

पं० मक्खन लालजीने जो भूमिका लिखी है वह बिलकुल असंगत और मनगढ़ंत है पंडित जीने चर्चासागरके आंदोलनको सुधारकोंका आंदोलन बतलाया है जो कि बिलकुल झूठ है इसमें सुधारकोंका कोई हाथ नहीं! आचार्य और उनके ग्रन्थोका हवाला देकर यहभी बतलाया है कि इतने आचार्योंके प्रमाण रहतेभी चर्चा सागर को भ्रष्ट बतलाना ठीक नहीं इसका समाधान यह है कि जिन विरुध वातोंके चर्चासागरमें उल्लेखहोनेसे भ्रष्ट कहा गया है

उनबातोंकी पुष्टिमें किसीभी मान्य आचार्यके बचनोंका प्रमाण नहीं दिया है पंडितजीने ऐसा लिखकर समाजको धोखा दिया है आपने मुझपर यह वार किया है कि गजाधरलालजो अब कहें किस आचार्यको वे प्रमाण कहेंगे इसका उत्तर ट्रेक्टसे ही होगा ट्रेक्टमें आचार्योंकी प्रमाणिकताका पूर्ण विचार किया गया हैं।पंडितजीने यह भी लिखा है "न्याय तीर्थोंको ग्रन्थ देखना चाहिये न्यायतीर्थ होजाने मात्रमें कोई विद्वान नहीं हो सकता न्यायतीर्थपरीक्षा ३-४ वर्षमें होती है" इत्यादि इसका उत्तर यह है कि महाराज ग्रन्थ मैंने आपसे कम तो नहीं देखे होंगे। न्यायतीर्थ परीक्षाका मुझे कोई अभिमान भी नहीं। आपने उसकी प्राप्ति ३-४ वर्षमें लिखी है मैंने उसे १वर्षमें ही पास किया था। शायद आपको ३-४ वर्ष ही समय लगेगा क्योंकि उसकी प्राप्तिमे व्याकरण न्यायकी अच्छी योग्यताकी आवश्यकता है। जो हो आपकी निःसार भूमिकापर हमें बहुत लिखना था परंतु इस ट्रेक्टसे बहुत कुछ खुलासा हो जायगा इसलिये जानबूझकर नही लिखा है।

हमारी इच्छा थी कि यह ट्रेक्ट शांतिसे निकाला जाता परन्तु भाई रतनलालजीके इस आग्रहसे कि यह "पर्यूषण पर्वमें ही निकल जाना चाहिये" इसलिये बहुत जल्दी हमे इसे निकालना पड़ा। यद्यपि संशोधनकी काफी सावधानी रक्खी है तथापि आर्डर प्रूफकी अशुद्धियां न ठीक होने से कहीं २ कोई २ गलतियां रह गई हैं पाठक शुद्धकर पढ़ें।

जहां पर हमने मुनियोंके वनवासकी पुष्टि की है, वहांपर ऐति-

हासिक प्रकरणके कुछ श्लोक प्रमाणों द्वारा पुष्टि करते समय वहां को विषयकी सरलताके लिये पुनः दिये गये हैं पाठक इस दोषको पुनरुक्त दोष न समझें ।

प्रकरणानुसार जहां २ हमने खंडन करनेके लिये चर्चा-सागर और पं० मक्खनलालजीके शब्द उद्धृत किये हैं वहांपर कुछ तो हूबहू किये हैं। कहीं कहीं पर उनको विशेष लम्बाई देख थोड़े शब्दोंमें उनका भाव खींचा है। शब्दोंके ह पद न रहते भावांश में कमी नहीं की है।

प० मक्खनलालजीने इस ट्रैक्टके पात्रोंपर बड़े कठोर शब्दोंकी वर्षा हैं उनके बदलेमे हमें भी वह नीति नम्र शब्दोंमें अपनानी पड़ी है इस बातका भी हमें खेद ह ।

जिन महानुभावोंने इस ट्रैक्टके लिखते समय आरा जैन सिद्धान्त भवनसे वा अन्यत्रसे ग्रन्थ मंगाकर सहायता प्रदान की है। तथा जिन्होंने कुछ ऐतिहासिक बातोंमें हमें मदद पहुंचाई है। ट्रैक्टके प्रकाशन करते समय प्रूफ संशोधनादि सहायता दी हैं। अपना कार्य शिथिल कर इसमें तन मन लगाया है तथा गुण ग्राहकता और उदारताका परिचय देते हुए आर्थिक सहायता प्रदान की हैं उनके हम हृदयसे आभारी हैं।

हमने इस ट्रैक्टमें किसी पर कोई कटाक्ष नहीं किया हैं जैनसिद्धान्तका जो भी स्वरूप मनन किया है वह पाठकोंके सामने रख दिया है तथापि प्रमादवश हमसे कोई गलती हुई हो तो हम क्षमा चाहते हैं। प० मक्खनलालजी हमारे मित्र हैं। धार्मिक बातकी रक्षा केलिये हमें यह लिखना पड़ा है उत्तर प्रत्युत्तरकी समस्यामें कुछ कटुकता आही जाती है परन्तु वह हमारी कटुकता धर्मप्रेमसे है द्वेष भावसे नहीं तथापि हम उसकी भी क्षमाके प्रार्थी हैं।

गजाधरलाल शास्त्री

ॐ

प्रकाशकके दो शब्द

चर्चासागरसे यद्यपि समाज काफी सावधान हो चुकी है, जगह जगह बहिष्कार होना ही इसका ज्वलंत उदाहरण है, फिर भी पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार द्वारा लिखित ट्रेक्टसे कुछ लोगोंको भ्रम होना संभव है प्रस्तुत ट्रैक् इसीलिये निकाला गया है कि जिससे लोग धोखा न खाजांय। वास्तवमें हमारा यह प्रयास कतिपय गोबरपंथी पण्डितोंको समझानेके लिये हरगिज नहीं है क्योंकि उन्होंने तो समाजमें भट्टारक पंथ पुनः चला डालनेका बीड़ा उठा रक्खा है। हमें तो सिर्फ समाजके सामने इन विषयोंका आगम प्रमाण रखना था वही बड़े भारी परिश्रम भारी खोज और छानबीनके साथ इस ट्रेक्के रूपमें समाजके सामने उपस्थित किया जा रहा है अनेक आचार्योंके पुष्ट प्रमाणों से यह बात भलीभांती सिद्ध कर दी गई है कि चर्चासागरकी ऊटपटांग बातें एवं पं० मक्खनलालजीका निःसार समर्थन जैनागम और जैन सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध है।

समाजसे हमारा नम्र निवेदन हैं कि वह शांतचित्तसे इसमें दिये गये प्रमाणोंकी छानवीन कर विचार करेगी कि वास्तवमें यह चर्चासागर और पं० मक्खनलालजीके शास्त्रीय प्रमाण कितने आगम विरुद्ध हैं, और महा अनर्थ करनेवाले हैं। आशा है समाज धर्म रक्षाके इस कार्यमें कटिबद्ध होकर सचेत होजायगी। क्योंकि ऐसे जाली ग्रंथोंके प्रकाशनका कार्य बराबर जारी है, "सूर्य प्रकाश" और "दान विचार" इसके नमूने हैं।

अन्तमें जिन महानुभावोंने इस ट्रैक्के प्रकाशनमें धन और परिश्रमादिसे हमें सहायता दी है उनके हम अत्यन्त आभारी हैं।

विनीतः—

रतनलाल झांझरी

चर्चासागरके शास्त्रीय प्रमाणोंपर

विचार

****

ऐतिहासिक दृष्टिसे मुनियोंका निवासस्थान, श्राद्ध, तर्पण आदि धर्मविरुद्ध बातोंकी

मीमांसा

चर्चासागर ग्रंथ जबसे प्रकाशित हुआ है लोग एक बड़ी भारी उलझनमें पड़ गये हैं। यदि यह ग्रंथ प्रकाशित न होता तो जनताकी दृष्टि शायद इन विषयोंपर नहीं पड़ती तथा भट्टारक ग्रन्थोंमें जिस प्रकार शिथिलाचारकी पोषक और बातें पड़ी हैं और उनपर अमल नहीं किया जाता वैसी इसकी बातें भी पड़ी रहतीं और अमलमें न आतीं परन्तु मुनियोंको गांव-नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना चाहिये बनमें न रहना चाहिये, गोबरसे आरती, गायका दान, श्राद्ध, तर्पण आदि धर्म विपरीत बातें श्रावकोंको करना चाहिये, चर्चासागरके इन शब्दोंने लोगोंके चित्तोंमें उथल पुथल पैदा करदी है। लोग बड़े भारी भ्रममें पड़ गये हैं। जो हो, ये बातें कब और कैसे

पैदा हुईं ! जैन शास्त्रोंमें ये बातें कब मिलाई गईं ! हम सक्षेपमें इस विषयके इतिहासका उल्लेख किये देते हैं जिससे पाठक अच्छी तरह समझ लेंगे कि मुनियोंका जिन-मन्दिरोंमें रहना कबसे शुरू हुआ ? पूर्वाचार्योंके वचनोंमें किसप्रकार परिवर्तन किया गया ? जैन शास्त्रोंमें हिन्दू धर्मकी बातोंका किस समय किस रीतिसे समावेश किया गया ! पूर्वाचार्यों के नाम पर कैसे २ ग्रन्थोंकी रचना हुई, तथा आजकलके विद्वान उन ग्रन्थोंमें धर्म विरुद्ध बातें देखकर भी पक्षपातसे किसप्रकार उन्हें दिगंबर जैन शास्त्रका रूप दे रहे हैं ? और जैन धर्मको मलिन बनानेकी महा निन्दनीय चेष्टा कर रहे हैं।

छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अन्तरङ्ग, इस प्रकार तपके भेद बारह हैं। अंतरंग तपोंमें अन्तका तप ध्यान है। सर्व तपोंमें यह ध्यान तप ही सार है क्योंकि मोक्ष फल और स्वर्ग आदि उत्तमोत्तम फलोंकी प्राप्ति इसी ध्यान तपके द्वारा होती है; शेष सभी तप इसके सहायक वा साधक हैं। इस ध्यान तपका आराधन गृहस्थ और मुनि दोनों ही करते हैं। ध्यान करना मुनियों का तो खास काम है ही किन्तु अनेक ध्यानी गृहस्थोंका भी शास्त्रों में भले प्रकार वर्णन है। दूसरे पदार्थोंकी चिन्तासे हटकर जिस एक पदार्थका ध्यान किया जाय उस पदार्थमें चित्तकी एकाग्रता (लीनता) होना ही ध्यान है। यह एकाग्रता बहुत कठिन पदार्थ है। बीयाबान जङ्गलोंमें रहनेवाले भी जब ऐसी एकाग्रता नहीं प्राप्त कर सकते तब कोलाहलपूर्ण स्थानोंमें तो, इसकी प्राप्ति

हो ही नहीं सकती। इसीलिये शास्त्रकारोंने जिस क्षेत्रमें मनुष्योंका आवागमन वा सहवास न हो, किसी प्रकारका कोलाहल वा घण्टा आदिके शब्द न हों, और जो निर्जन शांत हो वही क्षेत्र ध्यानके योग्य कहा है। मुनियोंको ही ऐसे शांत क्षेत्रमें ध्यानकी आज्ञा नहीं है गृहस्थोंके लिये भी शांत प्रदेश ही ध्यानका स्थान बतलाया है। प्रातःस्मरणीय भगवान समंतभद्राचार्य गृहस्थोंके लिये ध्यानका स्थान इस प्रकार बतलाते हैं —

एकांते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ।९९।

रत्नकरण्डश्रावकाचार

अर्थात्—वन-जंगल शून्य मकान चैत्यालय आदि उपद्रव रहित एकान्त स्थानमें प्रसन्न बुद्धिसे सामायिक करना चाहिये ।९९।

यहापर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि भगवान समंत भद्राचार्यने गृहस्थोंके ध्यानके लिये सबसे प्रथम स्थान वन बतलाया है उसके बाद सूना घर फिर चैत्यालयका जिक्र किया है। इसका खास मतलब यही है कि ध्यानकी निश्चलता वन जंगलोंमें ही हो सकती है। यदि गृहस्थ किसी समय ध्यानके समय वनोंमें न पहुंच सके तो उसे एकान्त चैत्यालय—जिनमन्दिरोंमें ध्यान कर लेना चाहिये। स्वामी समंतभद्राचार्यको जिसप्रकार ध्यान का अनुभव था, उसीप्रकार उन्हें यह भी खूब मालूम था कि ध्यान किस जगह बैठकर अच्छी तरह हो सकता है? इसीलिये

उन्होंने गृहस्थोंके लिये भी सबसे पहली जगह जंगल ही बतलाई है; लाचारीके दर्जे उन्हें चैत्यालयकी जगहका उल्लेख करना पड़ा है। विचारनेकी बात है जब स्वामी समंतभद्राचार्य गृहस्थोंके लिये भी ध्यानका स्थान वन बतलाते हैं, तो मुनियोंके लिये तो उनके मतानुसार ध्यानका स्थान वन ही है। यह कोरी कल्पना ही नहीं। रत्नकरंड श्रावकाचारमें जहांपर ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन किया है वहींपर ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक उत्कृष्ट श्रावक (एलक) के लिये यह स्पष्ट विधान किया गया है कि वह गुरुके निकट व्रतग्रहणार्थ मुनिवनको जाता है, जिससे मुनियोंका निवासस्थान वन है, यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और यह बात अच्छी तरह ध्यानमें आ जाती है कि ग्राम-नगरके भीतर चैत्यालय वा जैन-मन्दिर मुनियोंके रहने वा ध्यानके स्थान नहीं। यह विषय आगे अच्छी तरह स्पष्ट किया जायगा।

'सुदर्शनचरित्र' पढ़नेवालोंको अच्छी तरह मालूम है कि सुदर्शन सेठ एक बहुत बड़े श्रीमान् गृहस्थ श्रावक थे। और परम धर्मात्मा थे। यद्यपि उनकेलिये अनेक चैत्यालय और जिनमन्दिर ध्यानके स्थान थे, परन्तु वे अष्टमी चतुर्दशीको नियमसे ध्यान वन हीमें किया करते थे। इसका यही कारण है कि वे ध्यानके रसको पहिचानते थे, इसलिये उसका विशेष आनन्द लेनेके लिये वन ही ध्यानके लिये उन्होंने उपयुक्त स्थान समझा था।

जो महानुभाव विद्वान हैं और ऐतिहासिक दृष्टिसे जिन्होंने शास्त्रोंका अनुभव किया है उन्हें अच्छीतरह मालूम है कि सामा-

न्य रूपसे मुनियोंके रहने वा ध्यानके स्थान वन-पर्वत गुफा आदि ही हैं किन्तु जो मुनि कर्म शक्तिके धारक हैं—पर्वत नदीतट आदि स्थानों पर ध्यान करनेकी पात्रता नहीं रखते, उनके लिये वसतिकाका विधान किया गया है जो कि मुनियोंके रहने योग्य सूने मकानके रूपमें होती है। और वह ग्राम वा नगरके बाहिर जंगलोंके शून्य स्थानोंमें हुआ करती हैं, किन्तु ग्राम नगरके भीतर चैत्यालय-जिनमन्दिरोंमें कहीं भी मुनियोंके रहनेका विधान नहीं। यदि शिथिलाचारके जमानेमें उस समयके जमानेकी खूबीसे पीछेके ग्रन्थोंमें कहींपर चैत्यालय जिनमन्दिरोंमें रहनेका उल्लेख भी मिले तो वहांपर मान्य पूर्वाचार्योंके वचनोंसे मिलाकर निर्णय कर लेना चाहिये, क्योंकि जैन शास्त्रोंका वचन पूर्वापरविरोधी नहीं हो सकता। विरोधी वचनोंके विषयमें पूर्वाचार्योंके वचनों पर ही विशेष ध्यान देना होगा। पूर्वाचार्योंके वचनोंसे मुनियोंका ग्राम और नगरके भीतर चैत्यालयोंमें रहना कहीं भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये आचार्योंके वचनोंके जानकार विद्वानोंकी दृष्टिमें तो ग्राम और नगरके चैत्यालयोंमें रहना मुनियोंके लिये वाधित है ही, परंतु जो लोग विशेष रूपसे शास्त्र नहीं जानते वे भी गुरुओंकी स्तुति आदिसे यह समझते हैं कि मुनिगण वनोंमें ही रहते हैं, क्योंकि ऐसी कोई गुरुस्तुति नहीं देखी जाती जिसमें चैत्यालय और जिन मंदिरोंमें मुनियोंका रहना कहा गया हो। इस प्रकार विद्वान और मामूली धर्मके जानकार दोनों ही प्रकारके सज्जनोंका मुनियोंके वनवास पर ही जब दृढ श्रद्धान चला आता है तब

उनका गाँव वा नगरके भीतर चैत्यालयादि में ही निवास बतलाना एक प्रकारसे चित्तमें हलचल पैदा कर देता है। इसी तरह गोवरसे आरती, श्राद्ध तर्पण गोदान आदि धर्म विरुद्ध बातोंका कभी भी जैनधर्ममें समावेश नहीं हो सकता, यदि किसी शास्त्रमें ये बातें दीख पड़े भी तो लोगो के चित्तोंमें धर्मके विषयमें अनेक शङ्काएं उठना स्वाभाविक ही है। उन बातोंको वे धर्म नहीं मान सकते।

जिन्हें बीती बातों पर विचार करना हो, पूर्वकालीन किसी भी शताब्दीकी प्रगति जाननी हो, उनके लिये इतिहास बड़े कामकी चीज है। किसी समय इतिहासकी खूबीका लोगोंको भलेही ज्ञान न रहा हो परन्तु आजकल इतिहासको जो महत्व प्राप्त है वह किसी से छिपा नहीं है। धर्मोंके अन्दर मतभेद होनेके कारण अपने २ मतके कट्टर पक्षपातसे लोग एक दूसरेके धार्मिक ग्रन्थों पर भले ही विश्वास न करें परन्तु ऐतिहासिक लेख, पट्टावली, शिला लेख आदिकी बातें लोगोंको माननी ही पड़ती हैं। आज जिन बातोंका इतिहास प्रमाण मौजूद है लोग बड़ी दिलचस्पीके साथ उन पर विचार करते हैं और पूर्ण छान बीनके साथ उन्हें अपनानेमें किसी बातका संकोच नहीं रखते।

जैन इतिहास इस समय प्रायः लुप्तसा जान पड़ता है। इतिहास सम्बन्धी कुछ सामग्री मिलती भी है तो उसपर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता—साधारण जनता तो उसे महत्वकी दृष्टिसे ही नहीं देखती। यही कारण है कि आज हम किसी बात पर खुल

कर विचार नहीं कर पाते। भगवान महावीरस्वामीके बाद जैन धर्म कबतक सुरक्षित और निर्मल रहा? कब उसमें शिथिलाचारका सूत्रपात हुआ? कब उसका प्रभाव बढ़ा? उस समय जैन धर्म किस रूपमें ढला? किस समय जैन धर्म पर क्या आपत्ति आई? और वह आपत्ति कैसे कब दूर हुई? ये सब बातें यद्यपि ऐतिहासिक रूपसे शृंखलाबद्ध नहीं हैं, फिर भी जिस सदी (शताब्दी) से ग्रन्थोंकी रचना हुई है, उस सदीसे आजतक के ग्रंथोंका पर्यवेक्षण करने पर ये बातें बहुत कुछ खुलासा हो जाती हैं और उन्हें इतिहासका रूप प्राप्त हो जाने पर वे लोगोंकी विश्वास भाजन बन जाती हैं।

दिगम्बर मुनियोंकी वृत्ति सदा सिंहके समान रहती है। परीषहोंके सहन करनेके लिये वे वनोंमें निवास करते हैं। इस लिये गांव और नगरके भीतर जिनालयोंमें उनका निवास बाधित हैं। गांव नगरोंका रहना मुनियोंने कबसे शुरू किया उसका खुलासा इस प्रकार है:—

वर्तमानमें जितने भी शास्त्र उपलब्ध हैं उनमें सबसे प्राचीन शास्त्र भगवान कुंद कुंदके बनाये प्रायः मिलते हैं, इस लिये इस कलिकालमें सबसे पहिले शास्त्रोंके निर्माण करने वाले भगवान कुंद कुंद भी थे, यह मानना ही होगा। भगवान कुंदकुंदने वि० सं० ४९ मे आचार्य पद धारण किया था और १०१ में उनका स्वर्गारोहण हुआ था। षट प्राभृतग्रंथमें, मुनियोंकी दीक्षाका स्वरूप बतलाते हुए, मुनियोंके रहने तथा ध्यानके योग्य स्थानोंका जो उल्लेख किया हैं वह इस प्रकार है—

सुगणहरे तरुहट्टे उज्जाणे तह मसाणवासे वा
गिरिगुरुगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ४२

इसमें सूने मकान, वृक्षों के मूल (अधो भाग) उपवन, मरघट भूमि, पर्वतकी गुफा, गिरि शिखर, भयङ्कर वन तथा वसतिकायें, इनको मुनियों के रहने और ध्यान करनेके योग्य स्थान बतलाया है। भगवान कुंदकुंद अपने समयके दिव्य ज्ञानी आचार्य थे। उन्होंने महान शक्ति और हीनशक्ति दोनों प्रकारके मुनियोंके रहने योग्य स्थानका उल्लेख किया है अर्थात् महान शक्तिके धारक मुनिगण गिरि गुफा आदि कहीं भी रह सकते हैं; पर जिन मुनियों की शक्ति हीन है वे वसतिकाओं में रह सकते हैं जो कि नगरसे बाह्य जंगलोंमें हुआ करती हैं। इसके सिवाय और कहीं रहनेकी शास्त्र आज्ञा नहीं। यहां पर कहीं भी ग्राम नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहनेकी आचार्य महाराजने आज्ञा नहीं दी यदि वे ग्राम नगरके भीतर जिन मन्दिरों में रहना मुनियोंका उचित समझते तो अवश्य इस बातका उल्लेख करते। भगवान कुंदकुंदके बाद हम स्वामी समंतभद्रके जमानेकी ओर झुकते हैं—

भगवान समंतभद्र दूसरी शताब्दीके प्रबल आचार्य माने जाते हैं। भगवान कुंदकुंदने मुनियोंके रहने योग्य जिन स्थानों का उल्लेख किया भगवान समंतभद्रके जमानेमें वह परम्परा ज्यों की त्यों कायम रही। भगवान समंतभद्रने तो ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक उत्कृष्ट श्रावकको भी वनवासी बतलाया है। यथा—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखंडधरः ।

अर्थात् घरसे निकलकर जहां मुनिराज विराजते हों उस वनमें जाकर गुरुके समीप व्रतोंको ग्रहणकर भिक्षावृत्तिसे भोजन करने वाला तपस्वी कोपीन मात्र परिग्रहका धारक उत्कृष्ट श्रावक एलक होता है। यहांपर 'मुनिवन' और 'गुरूपकंठ' इन शब्दोंका उल्लेखकर समंतभद्राचार्यने यह स्पष्ट कर दिया है कि मुनियोंका रहना वनमें ही था। विचारनेकी बात है जब स्वामी समंतभद्राचार्य उत्कृष्ट श्रावक एलकोंको भी वनमें रहनेकी आज्ञा देते हैं तब मुनियोंको ग्राम नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहनेकी आज्ञा कैसे दे सकते हैं? यदि मुनियोंको ग्राम नगरके भीतर जिनालयोंमें रहना उन्हें अभीष्ट होता तो एलकको मुनिवनमें जानेका वे उल्लेख नहीं करते, इतना ही कहकर चुप हो जाते कि उत्कृष्ट श्रावकको मुनिसे व्रत धारण कर लेने चाहिये। इसलिये यह बात स्पष्ट है कि स्वामी समंतभद्राचार्यके समयमें मुनिगण गांव-नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें निवास नहीं करते थे वे वनवासी ही थे। अब हम भगवज्जिनसेनाचार्यके जमानेकी ओर ध्यान देते हैं—

भगवज्जिनसेनाचार्य अपने समयके विशेष ज्ञानी आचार्य थे, यह उनके आदिपुराणकी रचनासे भली भांति मालूम हो जाता है। भगवज्जिन सेनाचार्य शककी आठवीं शताब्दीमें विद्यमान थे। उन्होंने शक संवत् ७५९ में 'जयधवला' टीकाको बनाकर समाप्त

किया है। उस समय तक भगवान कुंदकुंदकी उपदेशी मुनियोंके वनवासकी प्रथा प्रायः ज्योंकी त्यों सुरक्षित थी। मुनिगण वनमें ही निवास करते थे। आदि पुराणमें जहां भगवज्जिनसेनाचार्यने मुनियोंके ध्यान योग्य स्थानका वर्णन किया है वहां इस प्रकार लिखा है...

शून्यालये श्मसाने वा जरदुद्यानकेऽपि वा
सरित्पुलिनगिर्यग्रगह्वरे द्रुमकोटरे ।५७। पर्व २१

१ अर्थात...'शून्य गृह मसाण जीर्ण उद्यान नदीके पुलिन गिरिके शिखरकी गुफा वृक्षनिके 'कोटर' ये मुनियोंके ध्यानके स्थान हैं। ५७

वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः।
वाहुल्यादिंद्रियार्थानां जातु व्यग्रीभवेन्मनः ।७८।

अर्थात—जो कदाचित साधु बसती (नगर) में रहैं, तो लोकनिके विषय देखें सो देखिवेतें इंद्रियनिकी व्याकुलता होय ताकरि मन व्याकुल होय। ७८।

ततो विविक्तशायित्वं वनेवासश्च योगिनां।
इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः ।७९।

अर्थात—तातें योगीश्वरनिकूं वनविषैं एकांत स्थानक विषैं निवास करना योग्य है। यह जिन कल्पी स्थविर कल्पी दोऊ मुनिनिका सामान्य मार्ग है। ७९। यहांपर भगवज्जिनसेनाचार्यने ग्राम

१ प्राचीन भाषा पं० दौलतरामजी कृत।

नगरके रहनेका बिलकुल निषेध कर दिया है। यदि उन्हें ग्राम नगरके भीतर जिनालयोंमें मुनियोंका रहना अभीष्ट होता तो वे अवश्य इस बातका उल्लेख करते और इस प्रकार खुलकर ग्राम नगरमें मुनियोंके रहनेका निषेध नहीं करते। इससे यह सिद्ध है कि विक्रमकी नवमी शताब्दी तक भगवान कुन्दकुन्दकी संप्रदाय अविच्छिन्न थी। ग्राम नगरके भीतर जिनालयोंमें रहनेकी शायद गन्ध तक भी न थी। अब हम भगवज्जिनसेनाचार्यके शिष्य श्रीगुणभद्राचार्यके समयमें मुनियोंके रहनेकी क्या व्यवस्था थी? इस विषयपर विचार करते हैं।

गुणभद्राचार्य भगवज्जिनसेनाचार्यके प्रधान शिष्य थे, जिन्होंने भगवज्जिनसेनाचार्यके अधूरे महापुराणको शक संवत ८२० में पूर्ण किया था। इन्होंने अपने आत्मानुशासनमें लिखा है—

इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्वसंत्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः। १९७

अर्थात्—बड़े खेदकी बात है कि इस कलिकालमें मुनिजन इधर उधर भयभीत हुए मृगोंकी तरह वनसे आकर रात्रिको नगरके समीप रहते हैं। गुणभद्राचार्यके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि उस समयके कुछ दिगम्बर मुनियोंमें इतना ही शिथिलाचार जारी हुआ था कि वे रात्रिके समय ग्रामके समीप आकर बसने लगे थे। इतनेपर भी गुणभद्राचार्यने महान खेद प्रगट किया है। यदि उस समय मूलसंघके अनुयायी सब मुनियोंमें ग्राम नगरके

भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना शुरू हो जाता तो उसका भी गुणभद्राचार्य अवश्य उल्लेख करते और वैसा शिथिलाचार देख कर वे और भी खेदकारी उद्गार निकालते। हमारा तो यहांतक अनुमान है कि गांव नगरोंके भीतर जिनालयोंमें निवास करनेवाले साधुओंकी वृत्ति भयभीत जान वे उन्हें जैनाभास भी कह देते तो कोई आश्चर्य न था। कुछ भी हो आचार्य गुणभद्रने अपने जमानेमें मूलसंघके आचार्यों में वैसा शिथिलाचार न देखने आदि किसी कारणसे भले ही उन्हें जैनाभास न कहा हो परंतु उनके ३५ वर्षों के बाद दर्शनसारको रचकर समाप्त करने वाले आचार्य देवसेनने काष्ठासंघ माथुरसंघ और द्राविड़ संघोंको जैनाभास कह ही डाला।

आचार्य देवसेनने वि० सं० ९९० में दर्शनसारकी रचना की है। इनके पहिले काष्ठासंघ और माथुरसंघ और द्राविड़ संघोंकी रचना हो चुकी थी मूलसंघकी अपेक्षा इन संघोंमें कुछ कुछ शिथिलाचारकी प्रवृत्ति हो चली थी। जिससे देवसेन सूरिने उन्हें जैनाभास कहनेमें जरा सी संकोच नहीं किया। देवसेन सूरिने जो काष्ठा संघ आदिको जैनाभास कहा है उसे प्रायः आचार्य गुणभद्रकी खेद व्यंजक आहकाही व्यक्तरूप समझना चाहिये; क्योंकि शिथिलाचारी मुनियोंको डरपोक कहनेका प्रथम साहस सम्भवतः उन्हींके द्वारा किया गया जान पड़ता है।

आचार्य गुणभद्र और देवसेन सूरिके वचनोंके आधारसे इतिहासकी सृष्टि करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गुण

भद्राचार्यके समयमें शिथिलाचारका प्रारम्भ हो चला था, देवसेन सूरिके समयमें उसकी प्रबलता बढ़ गई थी और मूल संघका आदर्श मलिन होता जा रहा था। इसलिये देवसेन सूरिको, जो कि अपने समयके अच्छे तपस्वी और प्रभावी आचार्य थे, ऐसे उद्गार निकालने पड़े। अस्तु; विक्रमकी दशवीं शताब्दी तक शिथिलाचारियोंको जैनाभास तो जरूर कहा गयाहै परन्तु दशवीं शताब्दी तकके किसी भी ग्रन्थमें ग्राम नगरोंके भीतर जिन मन्दिरोंमें निवास करनेकी मुनियोंको आज्ञा नहीं दी गई। आचार्य गुणभद्रके जमानेमें जो एक प्रकारके शिथिलाचारका सूत्रपात हो गया था, इसमें सन्देह नहीं कि उसने भयङ्कर रूप धारण कर लिया था। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि शिथिलाचार की वे बातें सहन भी हो निकली थीं—उन्हें प्रायः बुरा न समझा जाता था इस बातकी पुष्टिके लिये हम यहां यशस्तिलकके कर्ता सोमदेव आचार्यके वचनोंको उद्धृत करते हैं—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।
यथा पूज्यं जिनेंद्राणां रूपं लेपादिनिर्मितं।
तथापूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संमताः।

अर्थात्—इस कलिकालमें जब कि चित्त सदा चञ्चल रहता है और शरीर अन्नका कीड़ा बना हुआ है यह आश्चर्य है जो आज भी दिगम्बर रूपके धारक पुरुष मौजूद हैं। जिस प्रकार

जिनेन्द्रकी लेपादिनिर्मित प्रतिमा भी पूज्य है, उसी प्रकार आजकल के मुनियोंको पूर्व मुनियोंकी छाया समझ कर पूज्य मानना चाहिये।

विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी (शक सं० ८८१) में आचार्य सोमदेवने यशस्तिलक चम्पूकी रचना की है। उन्होंने उस जमानेके अनुसार उस समयके मुनियोंका चित्र खींचा है। सोमदेव सूरिके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि मुनियोंमें शिथिलाचारकी अधिकता हो गई थी, लोगोंकी उनमें रुचि बनी रहे; इसलिये उनके रहन सहनपर विशेष विचार नहीं किया। यहांपर यह बात खुलासा हो जाती है कि आचार्य गुणभद्रके समयमें कहां तो मुनियोंके जरासे भी शिथिलाचार पर इतनी कड़ाई थी और कहां साठ सत्तर वर्षके भीतर इतना परिवर्तन हो गया कि उस कड़ाईका प्रायः उल्लेख तक भी नहीं। मुनि जिस रूपसे भी रहते थे उनका वही रूप कुछ आचार्यो द्वारा पूज्य कहा जाने लगा। यह सब समयकी बलिहारी है!!

ऊपर लिखा जा चुका है कि शककी नवमी शताब्दीसे दि० जैन मुनियोंमें एक प्रकारसे शिथिलाचारका सूत्रपात हो गया था। वे ग्रामके समीप तथा धीरे २ ग्राम नगरके चैत्यालयोंमें रहने लगे थे। श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी उनके साधुओंमें इस शिथिलाचारका उल्लेख मिलता है। वीरनिर्वाण सं० ८५० के पहिले सभी श्वेतांबर साधु वनवासी थे। परन्तु उसके बाद उनमें शिथिलाचारका उदय हुआ। वनवास छोड़कर वे मन्दिर या चैत्यालयोंमें रहने लगे। उनके यहां एक 'सङ्घपट्टक' नामका ग्रन्थ है जो कि जिनवल्लभसूरिका बनाया

हुआ है और उसपर तीस हजारके करीब एक विस्तृत टीका है। उसकी भूमिकामें लिखा है कि वीरनि॰ सं० ८५० के लगभग कुछ श्वेताम्बर साधुओंने बनवास छोड़कर चैत्यालयों या मन्दिरोंमें रहना शुरू कर दिया था। धीरे २ उनका बल बढ़ताही गया और करीब १५० वर्षोंमें इनकी खासी प्रबलता हो गई। इन्होंने अपने मतानुसार ग्रन्थ रचे। जिनमन्दिरोंमें रहना प्रमाणित किया। और भी अनेक शिथिलाचारकी बातें अपनाईं। भोले श्रावक इन्हें गुरु मानने लगे। पुराने ग्रन्थ नष्ट किये गये और उस समय बनवासियोंकी संख्या बहुत कम रह गई। श्रीजिनवल्लभ सूरि जिनदत्त सूरि और जिनपति सूरि इन श्वेताम्बर आचार्योंने जिनमन्दिरोंमें रहनेवाले साधुओंके विरुद्ध घोर आन्दोलन किया और भी अनेक लोगोंने मन्दिरवासियोंके विरुद्ध आवाज उठाई। इस तरहसे सैकड़ों वर्षोंके बाद बड़ी कठिनतासे इन्हें सफलता मिली और मन्दिरवासी साधुओंको पराजित होना पड़ा। बहुत सम्भव है श्वेताम्बर साधुओंकी शिथिलाचारकी प्रवृत्ति देखकर ही कुछ दिगंबर साधुओंकी वैसी हो- प्रवृत्ति हो गई हो और श्वेतांबर साधुओंके समान उन्होंने भी जिनमन्दिरोंमें रहना प्रारम्भ करदिया हो; क्योंकि श्वेतांबर साधुओंकी यह शिथिलाचार की प्रवृत्ति दिगंबर साधुओंसे बहुत पहिले जारी हो चुकी थी। कुछ भी हो परन्तु यह बात अच्छी तरह निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दीके आचार्य सोमदेवके समयमें शिथिलाचारका पूर्ण प्रचार हो चुका था। इसलिये मुनियोंकी छायाको भी पूज्य बतलानेका उन्हें आदेश करना पड़ा। जब सोमदेव सूरिके समयमें इतनी

भयङ्कर शिथिलता बढ़ चुकी थी तब आगे तो और भी शिथिलाचारने भयङ्कर रूप धारण कर लिया होगा। बीचके आचार्योंकी कृतिसे शिथिलाचारका दिग्दर्शन न करा कर अब हम पण्डित आशाधरजीके जमानेमें शिथिलाचारकी भयङ्करताका उल्लेख करते हैं।

वि० सं० १३०० के अन्ततक पं० आशाधरजी जीवित थे। ये अपने समयके कितने बड़े विद्वान थे, इनकी निर्माण की हुई कृतियाँ इस बातकी साक्षी हैं। मुनिगण भी इनके पास अध्ययन करते थे यह इनकी जीवनीसे प्रगट है। वि० सं० १३०० में इन्होंने अपने अनगार धर्मामृत ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका लिखी है। जिसमें कि मुनियोंके स्वरूपका विस्तारसे वर्णन है। इसके द्वितीय अध्यायमें, सम्यक्त्वका वर्णन करते हुए, उन्होंने इस प्रकार लिखा है---

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवंद्यामपोद्यार्हतीं
वामां केचिदहंयवो व्यवहरंत्यन्ये वहिस्तांश्रिताः
लोकं भूतवदाविशंत्यवशिनस्तच्छायया चापरे
म्लेच्छंतीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यजत्॥

टीका—इह क्षेत्रे संप्रतिकाले केचित्तापसादयो व्यवहरंति प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयां कुर्वंति कां मुद्रां--लिंगं चिह्नं। किंविशिष्टां वामां—विपरीतां--जटाधारणभस्मोद्धूलनादिरूपां। किं विशिष्टाः संतः, अहंयवोऽहंकारिणः किं कृत्वा अपोद्य अपवादविषयां कृत्वा निषिध्येत्यर्थः। कां, मुद्रां। किं विशिष्टां आर्हतीं जैनीं—आचेल

क्यादिलिंगलक्षणा पुनः किं विशिष्टा ? त्रजगतीवंद्या—जगत्त्रय नमस्यां। पुनरपि किं विशिष्टां। सांव्यवहारिकीं समीचनप्रवृत्ति निवृत्तिप्रयोजनां पक्षे टंकादिनाणकाकृतिं समीचीनामपोह्य मिथ्या-रूपां क्षुद्रा व्यवहरंतीति व्याख्येयं। अन्ये पुनर्द्रव्यजिनलिंगधारिणो मुनिमानिनोऽत्रशिनोऽजितेंद्रियाः सततं तथाभूतामार्हतीं मुद्रां वहिः शरीरे न मनसि श्रिताः प्रपन्नाः, आविशंति संक्रामति विचे-ष्टयंतीत्यर्थः। कं लोकं धर्मकाम जनं। किंवत् भूतवद्ग्र-हैस्तुल्यं। अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिंगधारिणो मठपतयो म्लेच्छंति म्लेच्छा इवाचरंति लोकशास्त्रविरुद्धमाचारं चरंतीत्यर्थः कया तच्छायया--आर्हतगतप्रतिरूपेण तथा च पठति —

पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतं।

भोः सम्यक्त्वाराधक ? त्यज—मुंच त्वं। कं त्रिधा परि-चर्या—मनसानुमोदनं वाचा कीर्तनं कायेन संसर्गं च। कैः सह तर्कैः—कुत्सितैस्तैस्त्रितयैः। किं विशिष्टैः पुनर्देहमोहैः---पुरुपा-कारमिथ्यात्वैः। तदुक्तं--

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंवृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते।

वाह्या अप्याहुः:---

पाखंडिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्
हेतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।

अर्थात्---मिथ्यादृष्टि तीन प्रकारके हैं। एक तो वे जो तीन जगत्की वन्दनीक भगवान् अर्हंतकी मुद्राके निषेध करने वाले, महाभिमानी, जटाधारण और भभूति लगानेवाले तपस्वी हैं। दूसरे वे हैं जो द्रव्य रूपसे जिनमुद्राके धारक हैं, अपनेको मुनि मानते हैं, इन्द्रियोंके वशीभूत हैं, जिनकी आर्हती मुद्रा बाहर शरीर में ही स्थित है, मनमें नहीं, और जो भूतोंकी तरह लोगोंको विचेष्टित करते है। और तीसरे वे हैं जो द्रव्य रूपसे तो निर्ग्रंथलिंग के धारक हैं किन्तु साथही मठोंके स्वामी बने हुए मुनि हैं। ये लोक और शास्त्रके विरुद्ध आचरण करनेवाले होनेसे म्लेच्छोंके समान हैं। इस लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि ये तीनों प्रकारके मिथ्यात्वी चलते फिरते पुरुषके रूपमें साक्षात् मिथ्यात्व हैं इस लिये; हे सम्यग्दर्शनके आराधको-मन-वचन, कायसे इन तीनों प्रकारके दुष्ट निन्दित मिथ्या दृष्टियोंसे संपर्क छोड़ दो। प० आशाधरजीने संस्कृत टीकामें:—

पंडितैर्भ्रष्टचारित्रै र्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतं।

अर्थात्—भ्रष्ट आचरण करनेवाले पण्डितोंने और भ्रष्ट चारित्रके धारक बठर मुनियोंने भगवान जिनेन्द्रके निर्मल शासनको मलिन बना डाला है। यह श्लोक कहीं दूसरी जगहका उद्धृत किया है जो कि बड़े महत्वका है। प० आशाधरजी ने यह श्लोक उद्धृत कर उस समयके मुनियोंकी भ्रष्टता देख बड़ा खेद प्रगट किया है तथा जिस ग्रन्थकारके ये वचन हैं उसके दुःखित हृदयको यह आह समझनी चाहिये।

पं० आशाधरजीके इन वचनोंसे इस बातका अच्छीतरह पता लगता है कि तेरहवीं शताब्दीमें ऐसे भी दिगम्बर मुनि दीख पड़ते थे जो वनका रहना छोड़कर धीरे २ मन्दिर मठोंमें रहते २ मठोंके स्वामी बन गये थे। ग्रन्थकारने 'तच्छयया' यह पद दिया है उससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि वे वस्त्रधारी भट्टारक न थे किन्तु दिगम्बर जैन मुनि थे। और मठों वा जिनमन्दिरोंमें रहते २ उन्होंने उसे अपनी बपौती समझ ली थी। आजकल भी जो महानुभाव दिगम्बर जैन मुनियोंको गाव-नगरके भीतर जिन-मन्दिरोंमें रहनेका पक्ष खींचते हैं उन्हें पण्डित आशाधरजीके इन वचनों पर ध्यान देना चाहिये। ममताके दूर करनेके लिये मुनिवृत्ति धारण की जाती है, जब जिन मन्दिरोंमें रहनेकी ममता बनी ही रही तो मुनिवृत्ति धारण करना ही व्यर्थ है। अस्तु।

शास्त्रीय प्रमाणोंसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध है कि पं० आशाधरजीके जमानेमें तो दिगम्बर मुनियोंने अपनेको मठपति ही बनाया था परन्तु पीछे बिगड़ते बिगड़ते उसका रूप भट्टारक हो गया। उन्होंने वस्त्र धारण कर लिये और अपनेको महाव्रती मानते हुए राजगद्दीका सुख भोगने लगे। विचारनेकी बात है पहिले तो दिगम्बर मुनियोंने गांवके समीप रहना शुरू किया। पीछे वे मठ-मन्दिरोंमें रहने लगे। इसके बाद वे मठोंके स्वामी हुए। फिर दिगम्बर मुद्राको भी छोड़कर भट्टारकोंका रूप धारण किया और हर प्रकारसे विषय भोगोंमें मग्न रहने लगे। प्रारंभमें जरासी असावधानी हो जानेसे धर्म नाशक यह कितना भयंकर

विकार उत्पन्न हो गया ? यदि वन छोडकर गांवके समीप आकर रहनेवाले मुनियोंकी वृत्ति पर उस समय ध्यान दिया जाता और उसकी कड़ी आलोचना हो जाती तो निर्ग्रंथ लिंगमें यह महा- विकृति स्थान ही न पाती।

श्वेताम्बराचार्य श्रीमहेंद्र सूरिने वि० स० १२९४ में एक शत- पदी नामक ग्रन्थकी रचना की है। पं० आशाधरजीके अनगार धर्मामृतसे ६ वर्ष पहिले इस ग्रन्थका निर्माण हुआ था। उसमें एक दिगम्बरमतविचार नामका प्रकरण है। उस समयके दिग- म्बर जैन साधुओंको लक्ष्यमें रखकर उस ग्रंथमें ऐसा लिखा है— "दिगम्बर जैन साधु, मठों मन्दिरोंमें रहते हैं, वहीं आर्यिकायें भी रहती हैं। शीतकालमें अग्निका सहारा लेते हैं, पयालके बिछौनोंपर सोते हैं इत्यादि इससे भी मालूम होता है कि तेरहवीं शताब्दीमें कुछ दिगम्बर जैन मुनियोंमें शिथिलाचारने पूर्ण घर कर लिया था।

तेरहवीं शताब्दीके बाद भट्टारकोंकी खासी प्रबलता हो गई। सोलहवीं शताब्दी तक इनका इकछत्ता राज्य रहा। यदि किसीने इस प्रथाके विरुद्ध आवाज भी उठाई तो वह चल नहीं सकी। दशवीं शताब्दी तक कहीं भी दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें मुनियोंको जिनमन्दिरोंमें रहनेकी आज्ञा नहीं दीख पड़ती। तेरहवीं शता- ब्दीके बाद होनेवाले इन्द्रनंदी महाराजने दबी जुबानसे मुनियोंको मन्दिरोंमें रहनेकी राय मात्र जाहिर की है परन्तु उस समय कुछ २ मुनियोंने जिनमन्दिरोंमें रहना शुरू कर दिया था फिर वह मार्ग विकृत ही होता चला गया। फिर भट्टारकोंका साम्राज्य आ गया.

तब तो मन्दिरोंमें रहना शिथिलाचार ही नहीं माना जाने लगा क्यों कि अधिकतासे जिनमन्दिर ही रहनेके स्थान बना लिये तब उसे शिथिलाचार बताना कठिन हो गया। उस समयमें जो जैन ग्रन्थ बने उनमें भी मन्दिरोंमें रहना पुष्ट किया गया। पाठकोंके सामने हम रत्नमाला ग्रन्थका एक श्लोक रखते हैं—

कलौ काले वनेवासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः
स्थीयते च जिनागारग्रामादिषु विशेषतः ।२२।

पृ० १०४ छपा

अर्थात् इस कलिकालमें मुनीश्वरोंने वनका वास छोड़ दिया है और वे जिनमन्दिर ग्राम-नगरमें रहते हैं। रत्नमालाके कर्ता शिवकोटि नामसे वि० सं० १५०० में हो गये हैं। यह श्लोक इन्द्रनन्दी महाराजके श्लोकसे बिलकुल मिलता-जुलता है। भेद इतना ही है कि इन्द्रनन्दीने राय मात्र दी है और इन्होंने जिन-मन्दिरोंमें रहनेका विधान ही कर दिया है। यह समयकी खूबी है। पंद्रहवीं शताब्दीमें जब जिनमन्दिर वासियोंकी खासी प्रबलता थी तब भट्टारक शिवकोटि कैसे यह समय चूक सकते थे? जो हो यह बात शास्त्रीयप्रमाणों और तर्कोंसे अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि दशवी शताब्दी तक मुनियोंको जैन मन्दिरोंमें रहनेकी कहीं आज्ञा नहीं। दशवीं शताब्दीके बाद जब शिथिलाचारकी प्रबलता हुई तबसे कुछ मुनियोंने अपनी सिंह वृत्तिको विसार दिया। हीन शक्तिके धारक मुनियोंको वसतिकाओंमें रहनेका विधान था

इस पर भी कुछ ध्यान नहीं दिया। वे जिनमन्दिरोंमें रहने लगे उसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि सच्चा मुनिलिंग ही संसार से विदा हो गया। मुनिनामधारियोंने जैन धर्मको मलिन कर डाला। अब भी यदि इस शिथिलाचारको अपनाया जायगा और गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें मुनियोंका रहना होगा तो और भी अधिक अनर्थोंकी सम्भावना है। इस शिथिलाचारसे मुनि-धर्मकी कभी रक्षा न हो सकेगी।

यहां पर यह शंका होती है कि भगवद्भट्टाकलंक देव अपने समयके बड़े भारी प्रभावी आचार्य हो गये हैं। उन्होंने राज वार्तिकालंकारमें इस प्रकार लिखा है—

ग्रामे एकरात्रं नगरे पंच रात्रं
प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्येवं संयतस्येत्यादि

पृ० ३३५ छपा

अर्थात् मुनिको ग्राममें एक दिन ठहरना चाहिये और नगरमें पांच दिन ठहरना चाहिये। यहां पर ग्राम नगरका स्पष्ट विधान है। ग्राम नगरमेंभी मुनि जिनमन्दिरोंमें ठहर सकते हैं इस लिये ग्राम नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें ठहरना शिथिलाचार नहीं तथा भट्टाकलंक देव सातवी शताब्दीके आचार्य हैं, इसलिये उस समय भी ग्राम-नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहनेकी प्रथा थी, दशवीं शताब्दीके बाद बतलाना भूल है? इसका उत्तर यह है कि—

ग्राम नगरमें ठहरनेका विधान शास्त्रोक्त है और वह हमारे

आपके सबोंके मानने योग्य है। परन्तु ग्राम-नगरका अर्थ जो यह किया जाता है कि ग्राम-नगरके भीतर रहना चाहिये, यह भूल है क्योंकि ग्राम-नगरके भीतर तो मुनियोंको ठहरना हो ही नहीं सकता। यह निश्चित है कि जो व्यक्ति जिस योग्य होता है वह अपने योग्य स्थान पर ही ठहरता है। मुनिगण एकांतवासी हैं एकांतमें ही उनका ध्यान और अध्ययन हो सकता है। गांव और नगरके भीतर रहने पर उन्हें एकान्त स्थान मिलना दुर्लभ हैं, क्यों कि वहा पर अनेक जीवोंका संघट्ट रहता है। ग्राम नगरके भीतर के स्थान सदा कोलाहलोंसे पूर्ण रहते हैं। *यदि यह कहा जाय कि मुनिगण ग्राम-नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रह सकते हैं ? तो उस विषयमें यह कहना है कि प्रथम तो गांव और नगरके भीतर जितने भी जिनमन्दिर हैं उनमें मुनियोंके रहने योग्य कोई स्थान नही दीख पडता। यदि जिनमंन्दिरोंमें मुनियोंके रहनेकी चाल प्राचीन होती तो जिन मन्दिरोंमें उनके लिये अवश्य जगह सुरक्षित होती। इसके सिवाय गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें रहनेपर मुनियोंकी शौच आदि क्रियाओ में वहुत वाधा आ सकती है। वस्तीके बाहिर जाने पर समय बहुत लग सकता है। जिनमंदिरोंमें शौचादिकी व्यवस्था हो नहीं सकती। तथा जिनमन्दिरोंमें रहने पर मुनि-गण वहीं सोवेंगे तो उन्हे 'आसादना' दोष लगेगा। इसके सिवाय मुनियोंके ध्यानका समय प्रातःकाल दोपहर और सायंकाल है। जिनमन्दिरोंमें गाजे-बाजेके साथ प्रातः काल पूजा होती हैं, दोपहरको भी लोग बराबर दर्शन-स्तुति करते हैं। शामको आरती

शास्त्र स्तुति आदि होते हैं। तीनों काल बराबर मन्दिरोंमें कोलाहल बना रहता है। जहां पर कोलाहल हो वहां मुनियोंका एकाग्र-ध्यान नहीं बन सकता। ध्यानके लिये शांत निर्जन शून्य स्थान का ही विधान है। इस रूपसे गांव-नगरोंमें तथा उनके भीतर जिन-मन्दिरोंमें मुनियोंका रहना कभी सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु जहां भी ग्राम-नगरका जिक्र आया है वहांपर मुनिगण उसके समीप वन-उद्यानोंमें ठहरते हैं। यही बात ली गई है; क्योंकि मुनियोंके ठहरनेका स्थान वही है। इसलिये ग्राम नगरमें मुनियोंका रहना बाधित होने पर ग्राम नगरके समीप उद्यान या वन आदिमें ही उनका रहना मानना होगा।

न्याय शास्त्रमें एक लक्षण शक्ति मानी है। उसका उदाहरण है 'गंगायां घोषः' यहां पर घोषका अर्थ हैं मल्हाओंकी झोपड़ियां, और गंगाका अर्थ है जलका प्रवाह अर्थात् मिलकर अर्थ होता है जलके प्रवाहमें मल्हाओंकी झोपड़ियां; है परन्तु यह अर्थ बाधित है क्योंकि जलके भीतर जहां अगाध जलका बहनो रहता है वहां मल्हाओंकी झोपड़ियां नहीं रह सकतीं; इस लिये लक्षणाशक्तिसे वहां यह अर्थ किया जाता है कि गंगाके तटपर मल्हाओंकी झोपड़ियां हैं। यह शक्ति बड़े २ शास्त्रकारोंने मानी है। इसी प्रकार जहां पर मुनियोंका रहना गांव और नगरोंमें बतलाया है वहां पर यही अर्थ है कि मुनिगण अपने योग्य स्थान नगरके बाहिर उद्यान, सूने मकान, वसतिका आदिमें ही निवास करते हैं, गांव नगरमें उनका रहना बाधित है—वहां मुनियोंका ध्यान बन नहीं सकता। यह बात

आगमानुसार तर्कके आधारपर लिखी गई है। इस बातकी पुष्टिमें आगम प्रमाण भी इस प्रकार है:—

मथुरामें जिससमय रोग फैला था उस समय वहां सप्त ऋषियोंका आना हुआ था और उनकी कृपासे वह रोग दूर हो गया था। शास्त्रोंमें लिखा है कि—वे मथुरा आये थे। तथा सप्त ऋषि पूजामें हम रोज ही पढ़ते हैं—'जे आये मथुरापुर मझार, जहा मरी रोगका अति प्रचार" यहांपर भी मथुरापुरीमें ही मुनियोंके आनेका उल्लेख है परन्तु वे मथुराके भीतर नहीं ठहरे थे किन्तु मथुराके निकट बाह्य उपवनमें ठहरे थे। आचार्य श्रीरविषेणने पद्मपुराणमें इस प्रकार लिखा है...

विहरंतोऽन्यदा प्राप्ता निर्ग्रंथा मथुरां पुरीं ।
गगनायायिनः सप्त सप्तसप्तिसमत्विषः । १ ।
सुरमन्युर्द्वितीयश्च श्रीमन्युरिति कीर्तितः ।
अन्यः श्रीनिचयो नाम तुरीयः सर्वसुंदरः । २ ।
पचमो जयवान् ज्ञेयः षष्ठो विनयलालसः ।
चरमो जयमित्राख्यः सर्वचारित्रसुंदरः । ३ ।
राज्ञः श्रीनंदनस्यैते धरणीसुंदरीभवाः ।
तनया जगति ख्याता गुणैः शुद्धैः प्रभापुरे । ४ ।
प्रीतिंकरमुनींद्रस्य देवागममुदीक्ष्यते ।
प्रतिबुद्धाः समं पित्रा धर्मं कर्तुं समुद्यताः । ५ ।

कालें विकालवत्काले कंदवृंदावृतांतरे।
न्यग्रोधतरुमुल ते योगं सन्मुनयः श्रिताः। ८।
तेषां तपःप्रभावेन चमरासुरनिर्मिता।
मारी श्वसुरदृष्टेव नारी विटगताऽनशत्। ९।

पद्म चरित्र पृष्ठ १६४ मुद्रित।

अर्थ—"अथानंतर आकाशविषै गमन करणहारे सप्त चारण ऋषि सप्तसूर्य समान है कांति जिनकी सो विहार करते निर्ग्रंथ मुनीन्द्र मथुरा पुरी आये। तिनके नाम सुरमन्यु १ श्रीमन्यु २ श्रीनिचय ३ सर्वसुंदर ४ जयवान ५ विनयलालस ६ जयमित्र ७ ये सबही महाचारित्रके पात्र अति सुन्दर राजा श्रीनंदन राणी धरणी सुंदरीके पुत्र पृथिवीविषे प्रसिद्ध पिता सहित प्रीतिंकर स्वामीका केवल ज्ञान देख प्रतिबोधको प्राप्त भये सो चातुर्मासिक विषै मथुराके वनविषैं बटके वृक्ष नीचे आय विराजे तिनके प्रभाव करि चमरेंद्रकी प्रेरी मरी दूर भई।

पद्मपुराण भाषा पृष्ठ ६९२ मुद्रित

मंत्री अवस्था और राज अवस्थामें जिस समय बलिद्वारा मुनियोंपर घोर उपसर्ग हुआ था उस समय वे मुनि उज्जयिनीमें कहाँ ठहरे थे? हरिवंश पुराणमें उसका इस प्रकार उल्लेख है—

उज्जयिन्यां भवेद्राजा श्रीधर्मो नामविश्रुतः।
श्रीमती श्रीमती तस्य महादेवी महागुणाः। ३।

चत्वारो मंत्रिणश्चास्य मंत्रमार्गविदो वलिः ।
वृहस्पतिश्च नमुचिः प्रल्हाद इति चांचितः । ४ ।
अन्यदा श्रुतपारस्थः ससप्तशतसंयुतः ।
आगत्याकंपनस्तस्थौ वाह्योद्याने महामुनिः । ५ ।
वंदनार्थं नृपो लोकं निर्यातमिव सागरं ।
प्रासादास्थस्तदालोक्य मंत्रिणोऽपृच्छदित्यसौ । ६

अर्थ—उज्जायिनी नगरीका स्वामी राजा श्रीधर्म था उसकी पटरानीका नाम श्रीमती थी जो कि महा सुन्दरी होनेसे श्रीमती ही, थी और अनेक गुणोंसे शोभायमान थी। राजा श्रीधर्मके वलि नमुचि, प्रल्हाद, और अंचित, ये चार मन्त्री थे जो कि मन्त्रकलामें अतिशय निपुण थे। एक दिन स्वामी अकपनाचार्य जो कि समस्त श्रुतके पारगामी थे सात सौ मुनिये.के साथ उज्जयिनी नगरी आये और उसके बाहिर उद्यानमें आकर विराज गये। जब नगरके निवासी लोगोंको यह पता लगा कि स्वामी, अकंपनाचार्य सातसौ मुनियोंके साथ आये हैं तो वे उमडे हुए समुद्रके समान बहुत बडी संख्यामें उनकी वन्दनाकेलिये चल दिये। राजा श्रीधर्म उस समय राजमहलपर बैठे थे; ज्यों ही उन्होंने नगरनिवासी लोगोंको वन्दनार्थ जाते देखा मन्त्रियोंसे उन्हो ने इस प्रकार पूछा—इत्यादि

हस्तिनागपुरमें जिस समय अकंपनाचार्य पधारे थे उनके ठहरने का स्थान हरिवंश पुराणमें इस प्रकार लिखा है—

आगत्याकंपनाचार्यस्तदा नागपुरं शनैः
मुनीनासमहोद्युयोगं चातुर्मास्यावधिं बहिः । ९।

सर्ग २०

अर्थ—जहां तहां बिहार करते २ आचार्य अकंपन धीरे २ हस्तिनागपुर आये और चार मासका योग धारण कर हस्तिनागपुरके बाह्य जंगलमें विराज गये ।९। यहां उज्जयिनी और हस्तिनागपुर दोनोंही नगरोंमें मुनियोंका ठहरना जंगलमें बताया गया है। यदि ग्राम नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहनेका विधान होता तो उज्जयिनी और हस्तिनागपुरके शहर भीतर जिनमन्दिर और चैत्यालयोंमें मुनियोंके ठहरनेका उल्लेख मिलता। इसलिये मानना पड़ेगा, ग्राम नगरमें आकर मुनिगण उनके जंगलोंमें ही ठहरते हैं यही सिद्धांत शास्त्रोक्त है। गांव नगरके भीतर जिनमन्दिर वा चैत्यालयोंमें मुनियोंका रहना बतलाना पीछेसे शास्त्रोंमें बढ़ाया गया है।

महाराज अरविन्द पोदनपुरके बड़े प्रभावशाली राजा थे। भगवान पार्श्वनाथका जीव मरुभूति उनका अत्यन्त प्यारा मंत्री था। कमठ द्वारा अपने प्यारे मंत्रीके मरनेके समाचार सुन राजा अरविन्दको महा दुःख हुआ था। उन्हें संसारसे एकदम वैराग्य हो गया था। उस समय पोदनपुरमें मुनिराज स्वयंप्रभका आना हुआ था और वे ग्राम नगरके भीतर चैत्यालयमें न ठहरकर पोदन पुरके उद्यानमें ठहरे थे। वादिराजसूरि कृत पार्श्व-चरितमें उसका इस प्रकार वर्णन है—

विभावयंतं भवविभ्रमत्य स्वभावमेवं नृपतिं प्रपद्य
निवेदयामास वनस्य गोप्ता स्वयंप्रभस्यागमनं महर्षे

। १०२ ।

अर्थ—महाराज अरविन्द इस प्रकार सांसारिक पदार्थोंके स्वरूपका विचार करही रहे थे कि उसी समय राजसभामें वनमाली आया और मुनिराज स्वयंप्रभका आगमन इस प्रकार निवेदन किया —

देवव्रती देवपतिर्यतीनामुद्यानमद्याभिगतोऽस्मदीयं
अभूतपूर्वामधिगम्य शोभामन्येवतस्यागमनाद्वनश्री

। १०३ ।

अर्थ---हे देव ! आज हमारे बगीचेमें एक दृढ़व्रती मुनियोंके स्वामी श्री मुनिराज स्वयंप्रभ पधारे हैं उनके शुभागमनमात्रसे ही वन लक्ष्मीकी एक अपूर्व ही शोभा हो गई है। वह उन मुनिराजके प्रभावसे एक विलक्षण ही मालूम होती है। १०३।

पार्श्वचरित पृष्ठ ७५ छपा।

मुनियोंको ग्राममें एक दिन ठहरना चाहिये और नगरमें पांच दिन ठहरना चाहिये, इस सिद्धान्तका आचार्य शिवकोटिकृत भगवती आराधना ग्रन्थमें तो खुलासा ही इस प्रकार कर दिया है---

जहिंणविसोत्तियअत्थि दु सद्दरसेहिं रूवगंधफासेहिं
सज्झायज्झाणघादो वा वसदी विवित्ता सा ।३३।

अर्थ—'जा वसतिकामें शब्द रस रूप गंध स्पर्श करि अशुभ परिणाम नहीं होय तथा स्वाध्यायका अर शुभध्यानका घात नहीं होय सो विविक्त वसतिका है।

भावार्थ—मुनीश्वरनिके वसने योग्य वसतिका ऐसी होय तामें वसें। तहां ग्रामके निकट वसतिकामें एक रात्रि वसें अर नगर बाह्य वसतिका होय तामें पंच रात्रि वसें अधिक काल वर्षा ऋतु बिना एक क्षेत्रमें नहीं वसें। अर जहां राग द्वेषकारी वस्तु देखि परिणाम बिगड़ि जांय तथा स्वाध्याय ध्यान बिगड़ि जाय तहां साधुको क्षणमात्र हूं नहीं रहना।' (पत्र ९२ मुद्रित)

ग्राम-नगरमें आकर मुनिगण उनके समीप जङ्गलों वा वसतिकामें ही ठहरते हैं, इस बातको पुष्ट करने वाले और भी अनेक प्रमाणोंसे शास्त्र भरे पड़े हैं; परन्तु मुनिगण ग्राम नगरके भीतर चैत्यालयोंमेंही रहते हैं इस बातका कहीं भी प्राचीन मान्य ग्रन्थोंमें उल्लेख नहीं मिलता। इसलिये ग्राम-नगरके भीतर मुनियोंका रहना बतलाना भट्टारकोंका निजी मत है और वह शिथिलाचारका पोषक होनेसे आगमविरुद्ध है।

यहांतकके प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि पं० आशाधरजी के उल्लेखानुसार तेरहवीं शताब्दीमें दिगम्बर मुनि मठपति हो चुके थे, उसके बाद उनमें बहुत शिथिलाचार बढ़ा, मठपतियोंने अपना भट्टारक रूप धारण कर लिया, कपड़ा पहिनना, पालकीमें बैठना, अनेक दासी दास रखना, बढ़िया अतर फुलेल आदि लगाना तिस पर भी अपनेको महाव्रती कहना, आदि

बातोंका काफी प्रचार हुआ। ये लोग श्रावकोंसे अपना कर वसूल करने लगे। सब तरहसे श्रावकोंको सताने लगे। श्री जैनमन्दिरों में इनकी ऊंची २ कामल गद्दिया लगने लगीं। १००८ श्री जिनेन्द्र देवकी अपेक्षा भी इन (ढोंगी भेषी पाखंडियों)का अधिक विनय होने लगा और सत्रहवीं शताब्दीतक इन भट्टारकोंका खासा बोल बाला रहा। उस समयके जमानेकी ऐतिहासिक दृष्टिसे छान बीन की जाने पर यह अच्छी तरह पता चल जाता है कि इन भट्टा-रकोंकी सत्तासे जैन जनता अत्यन्त पीड़ित हो चली थी। यह नहीं कहा जा सकता कि शिथिलाचारी दिगम्बर मुनियोंके जिन मन्दिरोंमें रहने पर उनके विरुद्ध उस वक्त के लोगोंने आवाज न उठाई हो—अवश्यही उठाई थी।

परन्तु मालूम यही होता है कि इन मुनियोंके विरोधियोंका संगठन इतना जबर्दस्त न था जो वे इस शिथिलाचारी प्रथाका मूलोच्छेद कर सकते; क्योंकि श्रावकोंकी असमर्थतासे उनपर भट्टा-रकोंका काफी प्रभाव था। बहु भाग श्रावक उनके अनुयायी थे। इस लिये विरोध किये जाने पर भी उनका प्रयत्न सफल न हो सका था।

आगे आकर हमें गोमय शुद्धि, श्राद्ध, तर्पण, आदि धर्म विरुद्ध बातों पर भी विचार करना है; इस लिये जैन शास्त्रोंमें उनका प्रवेश कैसे हुआ? ऐतिहासिक दृष्टिसे उस परभी हम थोड़ासा प्रकाश डालते हैं—

शककी नवीं शताब्दीसे शिथिलाचार प्रवृत्तिका सूत्रपात होकर

मुनि मार्ग ही मलिन नहीं हुआ किन्तु आगमके अन्दर धर्मविरुद्ध बातोंका समावेश कर उसे भी मलिन बना डाला गया जिसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि जो बातें जैन धर्मके बिलकुल विपरीत हैं उन्हें हिन्दू शास्त्रोंसे उठाकर जैन शास्त्रोंमें प्रविष्ट कर दिया गया। जैन शास्त्रोंमें प्रविष्ट हो जाने पर वे ही विपरीत बातें आज आप्त वचन मानी जाने लगीं और उन्हें प्रमाण रूपसे पेश कर विद्वान कहे जानेवाले कुछ पण्डित जन इस निर्मल जैन धर्मको मलिन बनानेकी पूर्ण चेष्टा कर रहे हैं।

विस्तृत इतिहास लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं। समय आने पर वह लिखा जा सकेगा परन्तु बात यह है कि कई भट्टारक ऐसे हुए हैं जो बिलकुल विद्वान् न थे। उन्हें यह तो शौक रहा कि जिस तरह विद्वान् भट्टारकोंने ग्रन्थ रचकर उन पर अपना नाम दिया है उस तरह हमारे नामसे भी ग्रन्थ रचे जाने चाहिये, परन्तु यह न सोचा कि हमारे अन्दर उन सरीखी विद्वत्ता नहीं है इस लिये इन नाम लोलुपोंने ब्राह्मण पण्डित नौकर रक्खे। अपने नाम से उनके द्वारा ग्रन्थ बनवाये। ब्राह्मण पण्डितोंने जहां जैसा देखा हिन्दू ग्रन्थकी बातें मिला दीं। ज्ञान हीन भट्टारकोंमें उन ग्रंथोंके छानबीनकी योग्यता थी नहीं वे बातें उसी तरह ग्रन्थोंमें पड़ी रह गईं और उन्हें आप्त वचन माना जाने लगा। दूसरे दक्षिण प्रांतमें ब्राह्मणों द्वारा जैन धर्म पर यह दोषारोपण किया गया था कि दिगम्बर जैनी वर्णाश्रम व्यवस्थाको नहीं मानते। ब्राह्मण वर्ण जो संसारमें सर्वोच्च वर्ण माना जाता है जैन धर्म उसे महत्वकी

दृष्टिसे नहीं मानता। समयानुसार ब्राह्मण वर्णको वह कल्पित ठहराता है। जैन धर्ममें श्राद्ध, तर्पण, आचमन आदिकी कोई महत्त्वपूर्ण व्यवस्था नहीं। गोदान, सुवर्णदान तथा कन्यादान आदिको कुदान माना जाता है, इत्यादि हलचलसे जैनियोंपर भारी संकट आकर उपस्थित हो गया था। शंकराचार्यका समय भी जैन धर्मके लिये कितना भयंकर था। राजाओंको अपने अधीन बना उनके द्वारा जैनियोंपर कैसे २ प्राण घातक वार किये गये थे, यह बात इतिहासज्ञोंसे छिपी नहीं है। जब जैनियों पर यह संकट आकर उपस्थित हुआ तो उन्होंने ब्राह्मणोंसे सहयोग करना उचित समझा। एव उन्हें रिझानेके लिये क्रियाकांडके ग्रन्थोंमें हिंदुओंकी कुछ खास बातें प्रविष्ट की जानेपर राजो होगये। कुछ ग्रन्थ उस समय को प्रगतिके अनुसार जैन विद्वानोंने भी अवश्य बनाये होंगे; परंतु अधिकांश प्रतिष्ठा पाठ और श्रावकाचारोंके ग्रंथोंका निर्माण ब्राह्मणों द्वारा हो हुआ था और उन्होंने शब्दोंका परिवर्त्तन कर हिंदूधर्मकी बातोंको ज्योंका त्यों ढाल डाला था। उस समय की सभी जनता उन बातो को माननेके लिये राजी न थी। उसे राजी करनेके लिये उन प्रतिष्ठा पाठों और श्रावकाचारोंका फर्जी नाम अकलंकदेव, नेमिचन्द्र, सिद्धांत चक्रवर्ती, उमा स्वामी आदि रख दिया गया, जिससे इन धुरंधर आचार्यों के नामसे कोई भी इन ग्रंथोंको अप्रामाणिक न मान सके। इसमें संदेह नहीं कि इन ग्रथोंके कर्त्ताओंने धर्म विरुद्ध बातोंको जैनधर्मका रूप देनेमें कोई कमी नहीं की है; परंतु जिन बातोंका जैनधर्मसे कोई सम्बन्ध हो ही नहीं

सकता उन बातोंको जैनधर्मानुकूल सिद्ध करनेमें कितनी भी बारीक छाल चली जाय, खुल ही जाती है। श्राद्ध, तर्पण, गोदान, गोबरसे आरती, गोमूत्रसे अभिषेक आदि बातें जैनधर्मके बिलकुल विपरीत हैं। भला ऐसा कौन सच्चा जैनी होगा जो इन बातोंको धर्मानुकूल मानेगा? जिन ग्रन्थोंके अन्दर ये धर्म विरुद्ध बातें लिखी हैं वे ग्रंथ जबतक भंडारोंमें पड़े रहे, आम लोगोंके देखनेमें नहीं आये तबतक उन ग्रन्थोंको अप्रामाणिक ठहरानेकी चेष्टा नहीं की गई; किन्तु जैसे ही वे ग्रन्थ प्रकाशमें आये, इनकी कलई खुली, उन्हें धर्म विरुद्ध करार देना पड़ा।

वीत रागताके पूजक जैनी गायकी पूजा तो कर ही नहीं सकते थे क्योंकि भगवान समंतभद्राचार्यने गायकी पूजाको देवमूढ़ता माना है। हाँ उन्होंने हिन्दूधर्मकी बातोंको अपनानेके लिये गोदान देना स्वीकार कर लिया होगा। गोबर गोमूत्रकी लोकमें विशेष मान्यता देख आरतीके लिये गोबर और अभिषेकके लिये गोमूत्र उन्हें लाचारीसे स्वीकार करना पड़ा होगा। उन्होंने यह बात स्वीकार करते समय यह जरूर विचार लिया होगा कि इन घृणित पदार्थोंसे तीन लोकके नाथ भगवान जिनेन्द्रकी आरती और अभिषेक किसी भी जैनी द्वारा नहीं किया जा सकता। उन्हें क्या मालूम थी कि इस समय लाचारीसे इन निंद्य बातोंके स्वीकार किये जानेपर जैन धर्मको मलिन बनानेकी नौबत आ जायगी। 'छिः! गोबरसे आरती और गोमूत्रसे अभिषेक करना कितना घृणित काम है। गायके गोबरसे त्रिलोकीनाथ भगवान जिनेन्द्रकी आरती

और गोमूत्रसे अभिषेक किया जानेपर तो गाय ही मुख्यदेव हुई। जिनेंद्रदेवकी उपना भी उसके सामने कुछ महत्त्व नहीं रखती। हमारा निजी अनुभव है। जो भी महाशय इन निंद्य बातोंकी इस समय पुष्टि कर रहे हैं वे उस समयकी घटनाकी अजानकारी और हठसे ही ऐसा कर रहे हैं। विचारनेकी बात है कि जब गोबरसे आरती और गोमूत्रसे अभिषेककी शास्त्रमें आज्ञा है; तब कहीं तो किसी रूपमें उसका प्रचार होना चाहिये था, परंतु हम देखते हैं कि जहांपर इन प्रतिष्ठा पाठोंकी रचना हुई थी और जहांके लोग इन प्रतिष्ठा पाठोंको आप्त बचन समझते हैं, वहां (उस दक्षिण प्रांतमें) भी कहीं गोवरसे आरती और गोमूत्रसे अभिषेक देखनेमें नहीं आता। वहांके लोग भी गोबर और गोमूत्रको अपवित्र मानकर उससे आरती और अभिषेक नहीं कर सकते। जब यह बात है तब यही मानना होगा कि खास आपत्तिके समय इस निंद्य बातको शास्त्रका रूप देना पड़ा था। वह आप्त बचन नहीं। इसलिये जो लोग गोबर गोमूत्रसे आरती और अभिषेक करना शास्त्रोक्त मानते हैं वे बहुत बड़ी गलतीपर हैं उन्हें जैनधर्मकी निर्मलताका रंचमात्र भी ध्यान नहीं।

बहुतसे महाशय यहाँ यह तर्क करते हैं कि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आगमानुकूल हैं और उनका विधान इन्हीं प्रतिष्ठापाठोंसे किया जाता है। तब इन प्रतिष्ठापाठोंको कैसे जाली कहा जा सकता है? यदि ये जाली हैं तो दूसरे प्रतिष्ठा पाठ होने चाहिये। इसका उत्तर मेरे अनुभवके अनुसार तो यह है कि प्राचीन प्रतिष्ठापाठोंको

समयकी प्रगतिके अनुसार या तो लुप्त कर दिया गया होगा या उन्ही प्रतिष्ठापाठोंमें हिन्दूधर्म का यह विषय मिला दिया गया होगा। आपत्तिके समय ऐसा करना कोई बड़ी बात नहीं। आपत्तिके समय इससे भी भयङ्कर कार्य करने पड़ते हैं। कहा जाता है कि आपत्तिके समय भट्टाकलंकदेवको श्रीजिनेन्द्र देवकी प्रतिमापर बारीक धागा डालकर उसे लांघना पड़ा था और निकलंक देवने अपने प्राणोंके साथ एक निरपराध धोबीका बलिदान करा दिया था। देखनेमें ये बातें बड़ीही भयंकर हैं, सामान्य जैनीभी ऐसा कार्य नहीं कर सकता, फिर जैन धर्मके एकमात्र प्राण, आचार्य प्रवर भगवान अकलंक, और उनके धर्मनिष्ठ भाई निकलंकसे तो ये महानिंद्य बातें हो ही नहीं सकती थीं परन्तु उस समय सबसे बड़ा प्रश्न जैन धर्मकी रक्षाका था। यदि उस समय वैसा न किया जाता तो आज जैन धर्मका खोज भी नहीं मिलता। बौद्ध धर्म ही सब ओर दीख पड़ता। भगवान् समंतभद्राचार्यका यह उपदेश है कि—"अल्पफल बहु विघातात् अवहेयम्" अर्थात् फल थोड़ा हो हानि अधिक हो, ऐसा काम कभी न करना चाहिये। और इस लिये जिसमें फल अधिक हो और हानि थोड़ी हो वह कार्य स्वतः विधेय ठहरता है। अकलंक देवादिकी उक्त कृतियोंमें विशाल फल तो था जैन धर्मकी रक्षा और स्वल्प हानि थी प्रतिमाका अविनय आदि; इसीसे भगवान अकलंकदेव और निकलंक देवका वह साहस अनुचित नहीं माना गया था। दक्षिणमें दिगम्बर जैन धर्मपर घोर आपत्ति आकर पड़ी थी, उस समय धर्मकी रक्षार्थ

प्राचीन प्रतिष्ठापाठोंका लोप कर देना अथवा उन्हीमें कुछ हिन्दू धर्मकी असंगत बातोंको प्रविष्ट कर देना विशेष हानिकर न था। क्योंकि दिगम्बर जैन धर्मकी रक्षा रूप विशाल फल सामने विद्यमान था। जो हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रतिष्ठापाठों वा श्रावकाचारोंमें जो निद्य धर्म विरुद्ध बातें दीख पड़ती हैं, वे दूसरे मतोंके ग्रन्थोंसे प्रविष्ट की गई हैं। भगवान महावीरकी कभी वैसी आज्ञा नहीं हो सकती।

यहा पर यह शंका हो सकती है कि प्रतिष्ठा पाठोंके सिवाय और ग्रन्थोंमे भी आरतीके समय गोबरका उल्लेख मिलता है, उनमे ऐसा क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि दो एक ग्रन्थोंमें जो गोबरका उल्लेख मिलता है, वे ग्रन्थ भी उसी समयके आगे पीछे की रचना हैं। उनके कर्ता आदिने गोबर आदिका उपयोग असंभव जान समयकी खूबीसे मात्र उल्लेख कर दिया है अथवा शिथिलाचारियोंने अपनी ओरसे उनमें वह बात मिला दी है— और कोई बात नही।

यहां पर एक बात बड़े ध्यानसे विचारने योग्य है और वह यह कि भूमि पर नही गिरा हुआ ताजा गोबर क्यों आरतीमें ग्रहण किया गया? इसका क्या मतलब है? जब गोबर स्वयं शुद्ध और दूसरी चीजोंको शुद्ध करनेवाली चीज है वह तो कभी अशुद्ध नहीं हो सकती, भूमि पर पड़ी हुई भी वह शुद्ध ही है। दूसरे आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें गोबरके समान मिट्टीको भी शुद्ध माना है, इस लिये शुद्ध चीज पर शुद्ध चीज पडनेसे वह अशुद्ध हो ही नहीं सकती

फिर भूमिमे नहीं गिरा गोबर लेना अवश्य कुछ खसूसियत (विशेपना) रखता है। मेरा निजी अनुभव इस विषयमें यह है कि अंतर्मुहूर्त्त मे ही गोबरमें अगणित सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हैं ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है। जिस समय "प्रतिष्ठा पाठोंमें गोबरका समावेश किया गया होगा उस समय किसी जैनीकी ओरसे यह तर्क अवश्य उठाया गया होगा कि गोबरमें बहुतसे संमूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनेन्द्र मन्दिरमें गोबरके जाने पर बहुतसे जीवोंकी हिंसा होगी और इस तरह पर उस समय उसके विरोध की सृष्टि हुई होगी।" उस विरोधकाही यह परिणाम जान पड़ता है जो भूमि पर नहीं गिरे गोबरका विधान उल्लेख किया गया है। प्रतिष्ठा पाठोंके कर्त्ता पण्डितोंने तब समझा दिया होगा कि हाल ही पेटसे निकलनेवाले गोबरमें कुछ गरमी होगी, गोबरकी गरमीसे जल्दी जीव नहीं पड़ेंगे; तब तक आरती भी हो जायगी। इस लिये आरतीमें गरमागरम गोबर ग्रहण करनेसे जीवोंकी हिंसा नहीं हो सकती। जैनी उस समय दबे हुए थे। ब्राह्मण पण्डितोंको जैन शास्त्रोंमें गोबरको महत्व देना था, उन्हे ब्राह्मण पण्डितोंकी बात माननी ही पड़ी होगी। इस गरमागरम गोबरके ग्रहणसे तो मामूली जैनी भी इस बातको धर्मानुकूल नहीं मान सकता। विद्वान कहे जाने वाले व्यक्ति इस बातको आप्त बचन कह रहे हैं यह बड़ा आश्चर्य है। ऐसी हठके लिये धिक्कार है। इसी प्रकार श्राद्ध तर्पण प्राणायाम आचमन आदि क्रियामें भी हिन्दू धर्मकी छाप है। उनका उल्लेख भी ब्राह्मणोंकी कृपासे जैन शास्त्रोंमें मिलता है।

ये सारी क्रियायें जैन धर्मके विपरीत हैं। इन्हें मानना जैन धर्मकी निर्मलता नष्ट करना है।

सत्रहवी शताब्दीमें जब कि शिथिलाचारका साम्राज्य था, सच्चे मुनि मार्गका लोप, भट्टारकोंकी उद्दण्ड प्रवृत्ति, शास्त्रोंमें विपरीत बातोंका समावेश आदिका पूर्ण बोल-बाला था, उस समय स्वनाम धन्य नररत्न कविवर बनारसी दास जीने जैन-जातिमें जन्म लेकर उसे पवित्र किया और जैन धर्मकी निर्मलताकी रक्षार्थ जो भी उन्होने कार्य किये आज भी जैनियोंका बच्चा २ उन्हें परमोपकारी हितकारी मानता है, यह सभी जानते हैं।

पं० बनारसीदासजी अपने समयके प्रभावशाली विद्वान और कवि थे। अध्यात्म रसके ये कितने बड़े रसिक थे, यह उनकी नाटक समयसारकी कृति ज्वलन्त उदाहरण है। 'बनारसी विलास' में जो उनका जीवनचरित्र प्रकाशित है, उसीसे पाठक जान सकते हैं कि उनकी आत्मा कितनी उच्च पवित्र और सरल थी। सत्रहवीं शताब्दीमें जब उन्होने शिथिलाचारका पूर्ण साम्राज्य देखा, जिनमन्दिरोंमें रहनेवाले दिगम्बर मुनियोंकी परिणति पहिचानी भट्टारकोंकी उद्दंड प्रवृत्तिसे श्रावकोंको पीड़ित देखा, शास्त्रोंमें औदुध तर्पण, गोदान, गोवरसे आरती, गोमूत्रसे अभिषेक आदि बातों पर दृष्टि डाली, उस समय उनकी सच्ची आत्मा खौल उठी। उन्होने जैन धर्मके वास्तविक आचार्योंकी खोज की। उनके शास्त्रोंका अच्छी तरह मनन परिशीलन किया। उसीका यह फल है कि नवीं शताब्दी तक जो पवित्र जैनधर्मका स्वरूप सुरक्षित था

उसीको पुनः कायम करनेके लिये वे पिल पड़े। जैन धर्म जो अपनी पवित्रता खो चुका था, उसे पुनः ज्योंका त्यों रखनेका श्रेय उन्होंने प्राप्त कर लिया। पं० बनारसीदासजी अपने समयके बड़ेही परीक्षा-प्रधानी थे। मुनियोंकी वन्दना वे उनकी परीक्षा करनेके बादही किया करते थे, यह बात उनके जीवनचरित्रसे स्पष्ट है। पं० बनारसीदासजीने भट्टारक प्रथाका उच्छेद किया था शिथिलाचार, उसके पोषक गुरु और उनके ग्रन्थोंकी महत्ता उड़ा दी थी और सत्य मार्गकी रक्षा की थी। उस समय जैन संसारमें कोलाहल मच गया था। पं० बनारसीदासजीने जो मत ढूंढ़ निकाला था, वह बनारसी मतके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। वि० सं० १७०० के लगभग श्वेताम्बराचार्य महामहोपाध्याय मेघविजय गणीने जो 'युक्ति प्रबोध' नामका ग्रन्थ लिखा है, वह पं० बनारसी दास जीके मत-खंडनके लिये ही बनाया था। उन्होने लिखा है—

वोच्छं सुयणहियत्थं वाराणसियस्स मयभेयं।

अर्थात्—सज्जनोंके हितार्थ मैं बनारसीदासके मतभेदको कहूंगा। और भी उन्होंने लिखा है—

तम्हा दिगम्बराणं एए भट्टारगा वि ना पुज्जा
तिलतुसमित्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो॥१६।
जिणपडिमाणं भूसणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं
बाणारसिओ वारइ दिगंबरस्सागमाणाए॥१७।

सिरिविक्कमनरनाहा गएहिं सोलससएहिंवासेहिं
असि उत्तरेहिं जायं बाणारसिअस्स मयभेयं ।१८।

अर्थात् तिल तुषमात्र भी परिग्रहके धारक गुरु नहीं हो सकते। इसलिये बनारसीके मतमें दिगम्बर भट्टारक भी पूज्य नहीं। १६ जिन प्रतिमाओंको आभूषन मालायें पहिनाना और केसर लगाना बनारसीके मतमें निषिद्ध है। १७। वि० सं० १६८० में बनारसीके मतका उदय हुआ था। १८।

पं० द्यानतरायजीने अपने बुद्धिविलास ग्रंथमें तेरह पंथकी उत्पत्तिका समय वि० स० १६८३ लिखा है इसका तात्पर्य बनारसी मतका नाम ही तेरह पथ जान पडता है। पं० बनारसी दासजीका स्वर्गारोहण वि० सं० १६९८ के बाद हुआ था।

इस रूपसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि शुद्धाम्नायकी रक्षाका सूत्रपात कविवर बनारसी दासजीने ही किया था। उसके बाद आगरा और जैपुरके विद्वानोंने इसकी पूर्ण रक्षा की थी और सर्वत्र वे शुद्धाम्नायके प्रचारमें सफल हुए थे। यह उन्हीं महानुभावोंकी कृपाका फल है कि दिगम्बर जैनधर्मकी पवित्रता आजतक पूर्णरूपसे सुरक्षित रही और है। परन्तु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि अब कतिपय विद्वान नामधारियोंने पवित्र जैनधर्मको मलिन करनेकी फिर हठ ठानी है, उसका पुष्ट प्रमाण 'चर्चासागर' ग्रंथका प्रकाशन कर उसे पुष्ट करना है। पहिली भूल तो यही हुई कि ऐसे भ्रष्ट ग्रंथ का प्रकाशन किया गया। समाजके धर्मात्मा सेठोंके धनका दुरु-

पयोग किया गया; उसके बाद बड़ी मारी भूल यह है कि इस ग्रंथको प्रामाणिक मान लोग उसकी पुष्टि कर रहे हैं। अस्तु।

थोड़ासा इतिहास लिखकर पाठकोंके सामने यह बात स्पष्ट रूपसे रख दी गयी है कि जैनधर्मका सच्चा स्वरूप क्या था? किस समय उसमें शिथिलाचारका प्रवेश हुआ? मुनियोंका नगर-ग्रामके भीतर जिन-मन्दिरोंमें रहना कबसे शुरू हुआ? श्राद्ध, तर्पण, गोदान, गोबरसे आरती और गोमूत्रसे श्रीजिनेन्द्रका अभिषेक आदि बातें किस समय जैनशास्त्रोंमें प्रविष्ट की गईं। पीछे कब इनका सर्वथा नाश किया गया। किस प्रकार शुद्धाम्नायकी रक्षा हुई। आजतक वह किस तरह सुरक्षित रही। कुछ नामधारी विद्वान शुद्धाम्नायको किस प्रकार मटियामेट करना चाहते हैं। धर्मात्मा सेठोंको भुलावेमें डालकर किस तरह उनके धनका दुरुपयोग करते हैं। निन्दित और शिथिलाचार पूर्ण बातोंका प्रकाशन करनेमें कैसी निंद्य हठ ठान रहे हैं।

इतिहासके आधारसे सब बातोंका खुलासा हो जानेपर भी फिर भी एक बहुत बड़ी शंका यह रह जाती है कि आजकलके मुनि हीनशक्तिके धारक हैं, वे वन पर्वत्तोंकी गुफा और नदियोंके तट पर रह नहीं सकते। भगवान कुंदकुंदने हीनशक्तिके धारक मुनियोंके लिये वसतिकाका विधान वतलाया है। आचार्य सकलकीर्तिने भी—

प्राप्य वसतिकां सारां ध्यानं वाध्ययनं तपः
मुनिःसंहनने हीने कर्तुं शक्नोति नान्यथा ।७४।

अर्थात्—हीन संहननका धारक मुनि, उत्तम वसतिका पाकर ही ध्यान, अध्ययन और तप कर सकता है, वसतिकाके बिना नहीं। ७४। इस वचनसे हीन सहननके धारक मुनियोंको वसतिकाका विधान बतलाया है। वह वसतिका अभी दीख नहीं पड़ती। ग्राम नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें मुनियोंका रहना धर्मविरुद्ध शिथिलाचारका पोषक है। प्रबल भाग्यके उदयसे इस समय जहां तहां मुनियोंका विहार हो रहा है, फिर उनके रहनेका स्थान कौनसा होना चाहिये। इस विषयमें कहना यह है जिस समय मुनि मार्ग चालू था, उस समय ग्राम-नगरोंके बाहिर वसतिकायें रहती थीं। मुनिगण उनमें ठहरते थे। भगवती आराधना ग्रंथमें आचार्यवर शिवकोटिने वसतिकाओंका स्वरूप बड़े विस्तारसे कहा है। परन्तु जब सच्चा मुनिमार्ग लुप्त हो गया, मुनियोंकी संख्या भी अँगुलियों पर गिनने लायक रह गई, शिथिलाचारी भट्टारक मुनि माने जाने लगे, दिगम्बर मुद्राधारी मुनि भी चैत्यालय और मन्दिरवासी हो गये, उन्होंने अपनी सिंहवृत्तिको भुला दिया, उस समय वसतिका की प्रथा छिन्न भिन्न हो गई। लोगोंने मुनियोंके शिथिलाचार पर भी ध्यान नहीं दिया। किन्तु वि० सं० १७०० में जब शिथिलाचार के महत्त्वका मूलोच्छेद हुआ, भट्टारक प्रथा विदा होने लगी, तबसे मुनिपना भी प्रायः विदा सा हो गया। अब थोड़े दिनोंसे मुनियोंकी सत्ता चमकी है, उन्हें भी गांव नगरोंके भीतर मंदिर धर्मशाला चैत्यालयोंमें ही रहते देखा जाता है, इसलिये धर्मात्मा श्रावकोंका वसतिकाओंकी ओर ध्यान नहीं जाता। शास्त्रोंके मननसे मैंने इस

ध्यानका पूर्ण निर्णय कर लिया है कि मुनियोंको गांव नगरके भीतर कभी नहीं रहना चाहिये, खासकर चैत्यालय और मन्दिरोंमें तो उनके ध्यानकी सिद्धि हो ही नहीं सकती। हां शरीरको ध्यानके आकारमें ढालकर वे ध्यानका ढोंग कर सकते हैं। इस समय भी ग्राम-नगरके बाहिर बहुतसे जीर्ण मकान बगीचे छत्रियां रहती हैं, वहां मुनिगण सानन्द रह सकते हैं। जंगल और ऊसर भूमिमें जब वे रहेंगे तो अपार जनता वहीं उनके दर्शनोंके लिये पहुंचेगी। इस रूपसे जैनधर्मकी और भी विशेष प्रभावना होगी। जो लोग चलकर मुनियोंके दर्शनोंको जांयगे वे चाहे कितने भी उनके विरोधी हों, अवश्य उनकी आत्मापर प्रभाव पड़ेगा; किन्तु जब मुनि स्वयं उन्हें दर्शन देने गांव नगरोंके भीतर आवेंगे और रहेंगे तब उतनी विशेषता नहीं हो सकती। हमारी तो यह भावना है कि मुनिगण नगर वा गांवोंके जंगलोंमें चुपचाप आकर ठहरें। किसी रूपसे नगर निवासियोंको उनके आनेकी सूचना मिले, उस समय अमीर गरीब सभी नगर निवासी उनके दर्शनार्थ जंगलमें जायं, उस समयका आनन्द लोकोत्तर आनन्द होगा और वह विशेष प्रभावनाका कारण होगा। पहिले समय भी माली आदिसे मुनियोंके आगमनका समाचार पा, राजा, रईस, गरीब सभी मिलकर उनके दर्शनार्थ जाते थे और उनके उपदेश वा दर्शनसे अपना आत्मकल्याण करते थे। इस समय भी ऐसा होना कठिन नहीं, मुनिराजो की प्रवृत्ति वीतरागमय होनेके कारण उनके भाव गांव नगरमें रहनेके कभी नहीं हो सकते; परन्तु कुछ शिथिलाचारी पंडितजन, मुनियोंकी

इस प्रवृत्तिमें वाधक हैं। मुनियोंको वे इस प्रवृत्तिसे रोकते हैं। जिन मन्दिर चैत्यालयोंमें ही उन्हे रहने देना चाहते हैं। मुनिराजों-का इसमें कोई दोप नहीं। उनकी प्रवृत्ति पूज्य ही है। कुछ विद्वान नामधारी लोग उनकी प्रवृत्तिका दूषित बना रहे हे। मैं तो यह कहूंगा कि यदि इन व्यक्तियोंका प्रभाव मुनिसंघपर रहा तो यह निश्चय है कि मुनियोंकी प्रवृत्ति और भी शिथिला-चारकी ओर झुक जायेगी। सच्चे धर्मात्माओंके भाव मुनिसघसे विचलित हो जायगे तथा गोवरसे तीन लोकके नाथ भगवान जिनेंद्रकी आरती श्राद्ध, तर्पण, गोदान आदि भ्रष्ट बातोंका जैन धर्ममें प्रचार होनेसे जैनधर्मका सच्चा स्वरूप ही विदा हो जायगा। इस रूपसे इन शिथिलाचारके पोषक विद्वानों द्वारा निर्मल जैन-धर्मको बहुत बड़ा धक्का पहुंचेगा। नवमी शताब्दीसे जैनधर्मके अन्दर जो शिथिलाचारका सूत्रपात हो गया था। छह-सात सौ वर्षोंमें उसने जैनधर्मको बिलकुल ही मलिन कर डाला। स्वर्गीय पं० बनारसीदासजी, दौलतरामजी, टोडरमलजी आदि महानुभा-वोंकी कृपासे वह शिथिलाचार छिन्न भिन्न हो सका था; दुःख है :आज फिर भी कुछ पंडित उस पवित्र निर्मल दि० जैन-धर्मको मलिन बना रहे है। क्यों न हो प्रातः स्मरणीय आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी सरीखे विद्वानोंके लिये जब इन पण्डितोंका यहां तक साहस है कि "पं० टोडरमल जी विशेष विद्वान न थे" तब उनके द्वारा सुरक्षित मार्गको मलिन बना देना इन पंडितोंके बाये हाथका खेल है। पं० मक्खनलालजीने अनेक

व्यक्तियोंके समक्ष कलकत्तामें पं० टोडरमलजीके विषयमें उपर्युक्त बात कही थी। यह उनका दुस्साहस ही था। भाई मक्खन-लालजी आपने जो कुछ भी जैन शास्त्रका ज्ञान प्राप्त किया है, वह स्वर्गीय पूज्य गुरु गोपालदासजीकी कृपाका फल है। पं० टोडरमलजीके विषयमें इन गुरुजीके ये पवित्र भाव थे कि मैंने जो कुछ भी गोम्मटसारका विषय जाना है, वह पं० टोडरमलजीकी कृपासे जाना। विचारनेकी बात है जिस व्यक्तिका गुरु भी पं० टोडरमलजीको परम गुरु मानता हो, उस गुरुका शिष्य मलजी साहबको विशेष विद्वान भी न कहे, यह कितना बड़ा गुरुद्रोहीपना है! पं० मक्खनलालजीने, पूज्य मलजीके लिये जो शब्द निकाले हैं, उससे शांत व्यक्ति भी एकबार खौल उठ सकता है; परन्तु मुझे खौलनेकी आवश्यकता नहीं, जो जैसा करेगा अपना फल स्वयं भोगेगा। भाई मक्खनलालजी गुरुद्रोहीपनका कुफल स्वयं भोगेंगे।

पं० मक्खनलालजीने अपने ट्रेक्टमें सबसे पहले गांव नगरके भीतर जिनमन्दिर और चैत्यालयोंमें मुनियोंका रहना सिद्ध किया है। अब हम इस विषयपर विचार करते हैं। पंडितजीने जो इस बातकी सिद्धिमें प्रमाण दिये हैं उनका खण्डन तो हम पीछे करेंगे। पहिले हम वे शास्त्रीय प्रमाण देते हैं, जिनसे मुनियोंका गांव नगरके भीतर जिन-मन्दिर और चैत्यालयोंमें रहना बनही नहीं सकता। पाठक ध्यान पूर्वक पढ़नेकी कृपा करें।

———

मुनियोंके वन-वासपर शास्त्रीय प्रमाण

—※—

जैन शास्त्रोंमें उत्कृष्ट श्रावक एलकको भी जब वनमें ही रहने-की आज्ञा है, तब मुनियोंका निवासस्थान तो वन ही है। स्वामी समंतभद्राचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें एलकको वनमें रहनेकी इस प्रकार आज्ञा दी है—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखंडधरः। १४७

रत्न० श्राव०

अर्थात् घरसे निकलकर जिस वनमें मुनिराज विराजमान हों उस वनमें जावे। मुनिराजके समीप अच्छी तरह व्रत धारण करै। भिक्षावृत्तिसे भोजन करै। उत्तम तपोंको तपै, ऐसा कोपीन मात्र परिग्रहका धारक उत्कृष्ट श्रावक होता है। यहांपर एलकको वनमें निवासकी स्पष्ट आज्ञा है। जब एलकको भगवान समंतभद्राचार्य वनमें रहनेको स्पष्ट आज्ञा देते हैं, तब मुनि तो उनके मतानुसार वनवासीहैं ही। भगवान कुंदकुंदने मुनियोंकी दीक्षाका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

गाथा

सुरणहरे तरुहिट्टे उज्जाणे तह मसाणवासे वा
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहववसिते वा

छाया

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मसान वासे वा
गिरिगुहयांगिरिशिखरेवा भीमवनेअथवा वसतौवा४१

टोका—सुराहरे तरुहिट्टे शून्यगृहे निवासः कर्तव्यः प्रव्रज्यावते त्युपस्कारः। तरुहिट्टे वृक्षमूले स्थातव्यं। उज्जाणो-उद्याने कृत्रिम वने स्थातव्यं। तह मसाणवासे वा तथा श्मसानवासे वा पितृवनस्थाने स्थातव्य। गिरिगुह गिरिसिहरे वा-गिरिगुह-गिरेगुंहायां स्थातव्यं गिरिशिखरे वा पर्वतोपरि स्थातव्यं। भीमवणे अहव वसिते वा भीमवने भयानकायो मटव्यां स्थातव्यं अथवा वसिते वा ग्राम-नगरादौ वा स्थातव्यं। नगरे पंचरात्रे स्थातव्यं। ग्रामे विशेषण न स्थातव्यं।

अर्थात दिगम्बरी दीक्षाके धारक मुनियोंको सूने मकान वृक्षों के कोटर उद्यान-राजो महाराजा सेठ साहूकारोंके द्वारा बनाये गये वन, मरघट, पर्वतोंकी गुफा, पर्वतोंके शिखर अथवा वसतिकाओं में रहना चाहिये। ४१।

बोधप्राभृत पृ० १०६ षटप्राभृतादि संग्रह छपा।

ग्राम नगरके बाहिर मुनियोंके रहने योग्य सूने मकानका नाम वसनिका है। घोर वीर मुनि, वनोंमें पर्वतोंकी गुफा आदिमेंही

रहते हैं किन्तु जो मुनि हीन संहननके धारक हैं। वे वसनिकामें ठहरते हैं। भगवान कुंदकुंदने वसनिका तकका उल्लेख कर यह स्पष्ट कर दिया है कि मुनिगण सबसे जघन्य स्थान वसतिका-मेही रह सकते हैं। भगवान कुंद कुंदने ग्राम नगरके भीतर जिन-मन्दिर वा जिन-चैत्यालयोंमें मुनियोंके रहनेका विधान नहीं किया। यदि ग्राम नगरके भीतर जिन-मन्दिर आदि स्थान भी मुनियोंके रहने योग्य होते तो आचार्य महाराज मुनियोंको उनमें ठहरनेका भी विधान कर देते। वैसा नहीं किया, इसलिये गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहना शास्त्र आज्ञाके विरुद्ध है, यह मानना ही होगा।

भगवान कुंद कुंदके बनाये 'बोधप्राभृत' पर भट्टारक श्रुतसागर सूरिकी टीका है। भट्टारक श्रुतसागरसूरि विक्रम सं० १५५० में हुए हैं। उन्होंने टीकामें 'वसति' शब्दका अर्थ ग्राम नागरादि किया है और अपनी ओरसे यह खुलासा भी कर दिया है कि नगरमें पाच दिन और गांवमें एक दिन ठहरना चाहिये। श्रुतसागर सूरिने जो वसतिकाका अर्थ किया है उससे स्पष्ट है कि गांव नगरमें आकर मुनिगण उनके बाहिर वसतिकाओंमें रहते थे। श्रुतसागर सूरिने टीकामें भी ग्राम नगरके भीतर जिन मन्दिर आदि स्थानोंमें मुनियोंके रहनेका विधान नहीं किया इसलिये यही मानना पड़ेगा कि यह विधान शिथिलाचारियोंका चलाया हुआ है।

और भी प्रमाण

गाथा

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेई
सिलकट्ठे भूमितले सब्बे आरुहइ सव्वत्थ ।५६।

छाया

उपसर्गपरीषहसहाः, निर्जनदेशे हि नित्यं तिष्ठंति
शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र ५६

टीका—उवसग्गपरिसहसहा–उपसर्गाश्च तिर्यग्मानवदेवाचतेन-कृताश्चतुः प्रकाराः। परीषहाश्च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिः। उपसर्गपरीषहसहास्तान् सहते तेषु वा सहायः समर्था उपसर्गपरिषहसहाः। णिज्जणदेसेहि णिच्च अत्थेई—निर्जनदेशे-मनुष्यरहितप्रदेशे वने हि स्फुटं नित्यं तिष्ठति सिलकट्ठे भूमितले-शिलायां-दृषदि-काष्ठे—दारुफलके, भूमितले-भूमौ, तृणायां वा सव्वे आरुहइ सव्वत्थ एतानि सर्वाणि आरोहति उपविशति शेते च सर्वत्र वने ग्रामनगरादौ वा ।५६।

भावार्थ—तिर्यिञ्च मनुष्य देव और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्ग तथा बाईस परीषहोंके सहनेवाले मुनिगण निर्जन देवमनुष्योंके आवागमन रहित जङ्गलोंमें सदा रहते हैं। शिला, काष्ठ—चेजोड़ तख्ता, और भूमि इन सबोंपर उठते बैठते सोते हैं। ५६।

षट्प्राभृतादिसंग्रह बो० प्रा०

यहांपर भगवान कुन्दकुन्दने मुनियोंके निर्जन प्रदेश वनका

स्पष्ट उल्लेख किया है। गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें मुनियोंके रहनेकी यदि भगवान महावीरकी आज्ञा होती तो भगवान कुन्द-कुन्द उसका अवश्य उल्लेख करते; परन्तु वैसा नहीं किया गया। यहांपर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि भगवान कुन्द-कुन्दने तृणों घासपर मुनियोंके लिये सोने उठनेका बिलकुल ही विधान नहीं किया। श्रुतसागर सूरिने अपने समयकी प्रगतिके अनुसार वैसा लिख दिया है। क्योंकि श्रुतसागर सूरिके जमानेमें मुनिगण घासपर सोते होंगे। परन्तु घासपर सोना मुनियोंके लिये शास्त्राज्ञाके विरुद्ध है। इस विषयमें आचार्य पद्मनंदीने पद्म-पंचविंशतिकामें इस प्रकार लिखा है:—

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रंथताहानये
शय्याहेतुतृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतं।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतं
निर्ग्रंथेष्वपि चैतदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः

५६ पृ० २९ मुद्रित

आचार्य कहते हैं--निर्ग्रन्थ मुनि सोनेके समय यदि घास आदिको भी स्वीकार करलें तो वह भी उनके खोटे ध्यानके लिये होता है, निन्दाका करनेवाला निर्ग्रन्थतामें हानि पहुंचानेवाला होता है। और लज्जाका करनेवाला भी होता है। तब वे निर्ग्रंथ गृहस्थके योग्य सुवर्ण आदिको कैसे रख सकते हैं। यदि इस

कालमें निग्रंथ सुवर्ण आदिको रक्खें तो समझना चाहिये यह कलिकालका ही माहात्म्य है। ५३।

विचारनेकी बात है जब आचार्य पद्मनंदी तृणपर सोना महादूषित लज्जाका कारण बतलाते हैं तब भगवान कुन्दकुन्दका यह भन कैसे हो सकता है। अपने समयमें प्रचलित शिथिलाचारकी प्रथाके आधारसे यह श्रुतसागर सूरिका कथन है। समय जो भी करादे सो थोड़ा है। मुनि बनवासी ही हैं, इस विषयमें

और भी प्रमाण

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं८
बाह्यसंगत्यागः गिरिसरिद्दरीकंदराद्यावासः ७
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानां।

आदि शब्दात् श्मसानोद्यानादौ आवासः—स्थितिः।

भाव प्राभृत ३७

भावार्थ—जो मुनि भाव रहित द्रव्यलिंगी हैं उनके लिये बाह्य परिग्रहका त्याग, पर्वत, नदी, पर्वतोंकी गुफा, मरघट, उद्यान, आदिमें रहना, ध्यान अध्ययन सभी बातें निरर्थक हैं। यहांपर आचार्य महाराजने स्पष्ट ही कर दिया है कि द्रव्यलिंगी और भावलिंगी दोनों ही प्रकारके मुनियोंका रहनेका स्थान वन ही है। यदि ग्राम नगरोंके भीतर जिनमन्दिर आदि मुनियोंके रहनेके स्थान होते तो आचार्य महाराज उसे कभी नहीं भूल सकते थे।

और भी प्रमाण

मूलाचार के कर्ता आचार्य बट्टकेर अपने समयके उद्भट आचार्य थे, मूलाचारमें मुनियोंके चरित्रका खासरूपसे वर्णन किया गया है। आचार्य बट्टकेरने मुनियोंके रहने योग्य स्थान इस प्रकार बतलाया है—

भिक्खं चर वस रण्णो थोवं जेमेहि मा वहू जम्प
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहिं सुट्ठु वेरग्गं
भिक्षां चर बस अरण्ये स्तोकं जेम मा बहु जल्प
दुःखं सह जय निद्रां मैत्री भावय सुष्ठु वैराग्यं।

पृ० ३२२ मुद्रित

भावार्थ—हे मुनियो ! आप भिक्षा वृत्तिसे भोजन करो, बनमें रहो, थोड़ा भोजन करो, बहुत न बोलो, दुख सहो, निद्रा जीतो, और मैत्री भावना भाओ, यही उत्तम वैराग्य है। यहांपर मुनियों को वनवासका ही विधान किया है।

और भी प्रमाण

गाथा

किं काहदि वणवासो सुण्णागारो य रुक्खमूलो वा
भुजंदि आधाकम्मं सव्वे वि णिरत्थया जोगा।

छाया

किं करिष्यति वनवासःशून्यागारश्चवृक्षमूलो वा
भुंक्ते अधःकर्म सर्वेऽपि निरर्थका योगाः।

पृ० २३१ मू० आ०

भावार्थ—यदि साधु अधः (१) कर्मका सेवन करता है तो उसका वनवास शून्यागार और वृक्षका मुल क्या करेगा ? उसके सब ही योग निरर्थक हैं। इस गाथासे भी आचार्य महाराजने मुनियोंके लिये वन, शून्य मकान और वृक्षोंके मूल ही रहनेके स्थान बताये हैं। गांव नगरके भीतर जिन मन्दिर आदि नहीं।

और भी पुष्ट प्रमाण

गाथा

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेई।

पृ० ३४० मू० आ०

छाया

गिरि कंदरां श्मसानं शून्यागारं च वृक्षमूलं वा
स्थानं वैराग्य बहुलं धीरो भिक्षुः निषेवतां।

भावार्थ—धीर वीर मुनियोंको पर्वतकी गुफा, मरघट, शून्य घर, वृक्षके मूल भाग, इन स्थानोंपर बैठकर ध्यान करना चाहिये। क्योंकि ये स्थान वैराग्यके बढ़ानेवाले हैं। पाठक विचार करें

नोट (१) अधः कर्मका स्वरूप म[illegible] माणक्रममें विस्तारसे कहा है।

मूलाचार जिसमें कि मुनियोंके आचार विचारका वर्णन है इसके कर्त्ता स्वामी वट्टकेरने गाँव नगरके भीतर जिनमंदिर आदिमें मुनियोंके रहनेका कहीं भी उल्लेख नहीं किया।

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाके कर्ता आचार्य पद्मनंदीके समयमें मुनिगण वनवासी ही थे। गाव नगरोंके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहनेका उस समय कोई जिक्र ही न था। यह बात आगे अच्छी तरह लिखी जायगी। पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके जिस अध्यायमें श्रावकोंको महिमाका वर्णन किया गया है। उस अध्यायके 'संप्रत्यत्र कलौ काले' इत्यादि श्लोकोंको अशुद्ध पढ़कर चर्चासागरके कर्त्ता पांडे चम्पालालने बिना प्रकरणके यह लिख मारा है कि जिनमन्दिरोंमें मुनिगण रहते हैं, ऐसा पद्मनंदी आचार्यका मत है। पांडे जी विशेष विद्वान न थे उनसे यदि गलती होगई तो कोई बात नहीं। परन्तु आजकल विद्वान नामधारी व्यक्ति भी पक्षपात और हठके वशीभूत हुए जैनसिद्धांतके विपरीत गलतीकी पुष्टि कर रहे हैं, यह आश्चर्य है। यदि ये विद्वान नामधारी पण्डित महाशय पद्म० पंचविंशतकाके मुनि प्रकरणको भी देख लेते तो उन्हें पांडेजीकी असावधानीका पता लग जाता और स्वयं भी मिथ्या पक्षपातके लिये कमर न कसते। अस्तु जिस पद्मनंदिपञ्चविंशतिकाके बनावटी श्लोकके आधारसे मुनियोंका जिनमन्दिरोंमें रहना पुष्ट किया जाता है उसे ही निषेध करनेवाले पद्म० पञ्चविंशतिकाके कुछ श्लोकोंको हम यहां उद्धृत करते हैं। वे श्लोक इस प्रकार है—

प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि लसच्चंडानिलोद्यद्दिशि

स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि प्रक्षोण्य नियम्भसि
ग्रीष्मे ये गुरुमेघनीध्रशिरसि ज्योतिर्निधायोरसि
ध्वांतध्वंसकरं वसंति मुनयस्ते सन्तु नः श्रेयसे६४

जिस ग्रीष्म ऋतुमें अत्यंत कड़ी धूप पड़ती है, चारो दिशाओंमें भयङ्कर लू चलती है, रेता अत्यन्त गरम हो जाता है, कुए नदियोंका पानी सूख जाता है, ऐसी भयङ्कर ऋतुमें जो मुनि अज्ञानांधकार को नाश करनेवाले सम्यग्ज्ञान रूपी तेजको अन्तरङ्गमें रखकर अत्यन्त ऊंचे पहाड़की चोटी पर निवास करते हैं वे मुनि मेरे कल्याणकर्त्ता हों।

ते वः पांतु मुमुक्षवः कृतरवैरब्दैरतिश्यामलैः
शश्वद्वारि वमद्भिरब्धिविषयक्षारत्वदोषादिव
काले मज्जदिले पतद्गिरिकुले धावद्धुनीसंकुले
झंझावातविसंस्थुले तरुतले तिष्ठंति ये साधवः६५

जिस वर्षाकालमें काले काले मेघ भयंकर शब्द करते हैं, समुद्रके खारीपनके कारण मानो जो जहां तहां जल वर्षाते फिरते हैं। जिस कालमें जमीन नीचेको धसक जाती है, पर्वतोंसे बड़े-बड़े पत्थर गिरते हैं, जलकी भरी नदियां सब जगह दौड़ती फिरती है और जो जल सहित तीखी पवनसे भयंकर हैं। ऐसे भयंकर वर्षाकालमें मुनिगण वृक्षके नीचे बैठकर तप तपते हैं वे तुम्हारी रक्षा करो। ६५

और भी प्रमाण

म्लायत्कोकनदे गलत्पिकमदे भ्रंश्यद्द्रुमौघच्छदे
हर्षद्रोमदरिद्रके हिमऋतावत्यन्तदुःखप्रदे ।
ये तिष्ठंति चतुष्पथे पृथु तपः सौधस्थिताः साधवो
ध्यानोष्णा प्रहितोग्रशीतविधुरास्ते मे विदध्युः श्रियं
॥ ६६ ॥

जिस शीतकालमें कमल कुम्हला जाते हैं, बन्दरोंका मद गल जाता है, वृक्षोंके पत्ते जल जाते है, वस्त्र रहित दरिद्रोंके शरीरपर रोमांच खड़े हो जाते हैं और भी जो नाना प्रकारके दुःखोंका देने वाला है ऐसे भयंकर शीतकालमें ध्यान रूपी अग्निसे शीत दूर करने वाले जो मुनिगण चोपट मैदानमें बैठकर तप तपते हैं वे मुझे मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें । ६६ ।

कालत्रये बहिरवास्थितजातवर्षा-
शीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदुःखे ।
आत्म प्रबोधविकले सकलोऽपि काय-
क्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे । ६७ ।

जो मुनि आत्म ज्ञानसे रहित हैं, उनका बाहिर वनोंमें रहकर वर्षा शीत गर्मी तीनों कालमें उत्पन्न हुए दुःखोंके सहन रूप संपूर्ण कायक्लेश वैसा ही निरर्थक है जैसा कि धान्यके कट जाने पर खेतकी बाढ़ लगाना निरर्थक है । ६७ ।

पद्मनंदिपंचविंशतिकाके इन श्लोकोंसे यह बात स्पष्ट है कि मुनियोंका निवास स्थान वन ही हैं। गांव नगरके भीतर जिन मंदिर नहीं। जिस अध्यायके ये श्लोक हैं आचार्य पद्मनंदीने उस अध्यायमें मुनिओंके ही स्वरूपका वर्णन किया है। यदि आचार्य महाराजको मुनियोंका गांव नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें रहना अभीष्ट होता तो वे इस मुनि प्रकरणके अध्यायमें वैसा जरूर लिखते। मुनि प्रकरणमे ऐसी आवश्यक बातको वे कभी नहीं भूल सकते थे। इस मुनिप्रकरणमें गांव नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें मुनियोंके रहनेका विधान भी उनका प्रमाण कोटिमें लिया जाता परन्तु आचार्य पद्मनंदीकी लेखनीसे ऐसी धर्म विरुद्ध बात कभी नहीं लिखी जा सकती थी। श्रावक प्रकरणमें जहांपर श्रावकोंके जिनमंदिर बनवानेकी महिमाका आचार्य महाराज वर्णन कर रहे हैं वहां उनके वचनोंपर कुठाराघातकर जो अर्थका अनर्थ किया गयो है वह महान पापबंधका कारण है। श्रावकोंकी महिमाके वर्णनमें आचार्य महाराज मुनियोंका रहना जिनमंदिरोंमें बतलावें और जहां मुनियोंका स्वरूप वर्णन किया है वहां वह बात छोड़ दें, वहां उनका रहना वनमें कहें, यह गलती आचार्य पद्मनंदी-सरीखे महानुभावोंसे नहीं हो सकती। मामूली मनुष्य भी यह विचार सकता है। अस्तु जो महानुभाव पद्म० पंचविंशतिकाका प्रमाण देकर मुनियोंका गांव नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें रहना सिद्ध कर रहे हैं वे अब संतोष कर लें। उनका लिखना बिलकुल सिद्धान्त विरुद्ध है।

और भी प्रमाण

आदि पुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनाचार्य अपने समयके कितने प्रभावी आचार्य थे, जैनियोंका बच्चा २ इस बातको जानता है। आदि पुराणका जैन समाजमें काफी प्रचार है। आदि पुराणमें लिखा है कि महापूत चैत्यालय निर्जन स्थानमें था, मुनि गण वहां ठहर जाते थे। पं० मक्खनलाल जीने इस बातको लक्ष्य कर यह लिख मारा है कि 'मुनिगण जब महापूत चैत्यालयमें रहते थे तब गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमे रहना विरुद्ध नहीं, यहां पर पं० मक्खनलालजी कितने भूले हैं। कषायवश अर्थका अनर्थ कर उन्होंने लोगोंको कितने बड़े भ्रममें डाला है। यह तो अब हम उनके शब्दोंपर विचार करगे तब लिखेंगे, परन्तु भगवजित सेनाचार्यने मुनियोंके रहनेका स्थान क्या कहा है, उसे बतलानेके लिये हम यहां उनके वचन उद्धृत करते हैं। श्री आदिपुराणजी में मुनियोंके ध्यान करने और रहने योग्य स्थानका इस प्रकार वर्णन है—

ध्यानद्वयं विसृज्याद्यमसत्संसारकारणं ।
यदुत्तरं द्वयं ध्यानं मुनिनाभ्यासिशिष्यते ॥५५॥
तदिदं परिकर्मेष्टं देशावस्थाद्युपाश्रयं
वहिः सामग्र्यधीनं हि फलमत्र द्वयात्मकं ।५६।
शून्यालये श्मसाने वा जरदुद्यानकेऽपि वा।
सरित्पुलिनगिर्यग्रगह्वरे द्रुमकोटरे ।५७।

शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातपे

नात्युष्णातिशिशिरे नापि प्रबद्धतरमारुते ५८

आदिपुराण अध्याय २१ पृ० ७५१ छपा

अर्थ—आदिके दोय ध्यान असमीचीन अर संसारके कारण हैं तिनहिं छांड़ि कर मुनिगण उत्तरके दोय ध्यान धर्म्यध्यान अर शुक्लध्यान तिनिका अभ्यास करै हैं।५५। सो उत्तम ध्यानकी सामग्री सुनहु—पवित्र स्थानक अचल आसन इत्यादि वाह्य सामग्रीका संयोग ध्यानीनिकौं योग्य ही है अर इन ध्याननिका फल निश्चयतै निज स्वरूपकी प्राप्ति अर व्यवहार नयकरि अशुभकी निवृत्ति उत्तम वा मुख्य फल - निर्माण गौणफल स्वर्गादिक।५६। प्रथमही ध्यान योग्य स्थानक कहैं हैं—शून्य गृह, मसाण, जीर्ण उद्यान, नदीके पुलिन, गिरिके शिखरकी गुफा, वृक्षनिके कोटर।५७। अथवा और अनेक पवित्र स्थानक है चित्तके बश करण हारे जहां अति आताप नाहीं अतिशीत नाहीं प्रचण्ड पवन नाहीं।५८)

और भी प्रमाण

स्त्रीपशुक्लीवसंसक्तरहितं विजनं मुनेः।

सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः।७७।

वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः।

बाहुल्यादिंद्रियार्थानां जातु व्यग्रीभवेन्मनः।७८।

ततो विविक्तशायित्वं वनेवासश्च योगिनां ।
इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः ।७६।

आदि पुराण अध्याय २१ पृ० ७५४ ७५५

अर्थात्—स्त्री अर ग्राम पशु, नपुंसक निनिके संसर्गतें रहित निर्जन बन सोही महामुनिनिकूं उचित है अर ध्यानके समय तो एकान्त स्थानक ही विशेष योग्य है ।७७। जो साधु कदाचित (नगर) बसतीमें रहैं तो लोकनिके विषय देखे सो देखिवे तें इंद्रियनिकी व्याकुलता होय ताकरि मन व्याकुल होय ।७८। तातैं योगींद्रनिकूं वनविषैं एकांत स्थानकविषै निवास करना योग्य है यह स्थविर-कल्पी जिन कल्पी दोऊ मुनिनिका सामान्य मार्ग है।

भगवज्जिनसेनाचार्यके वचनोंसे यह स्पष्ट हो चुका कि मुनियों-के रहनेका स्थान बन ही है। गांव नगरके भीतर जिनमंदिर आदिमें रहना शास्त्र विरुद्ध हैं। महापूत चैत्यालयमें आदि पुराणके अन्दर मुनियोंका ठहरनो लिखा उसका भाव न समझ भाई मक्खनलालजी ने उसका यह अनर्थ कर दिया है कि मुनिगण गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रह सकते हैं। यदि भगवज्जिनसेनाचार्यको गाव नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें मुनियोंका रहना अभीष्ट था, तो जहां उन्होंने मुनियोंके रहनेके स्थानका वर्णन किया वहां यह क्यों नहीं कहा कि गांव नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें भी मुनिगण रहते हैं। इस बातके कहनेमें उन्हें क्या भय था। इसलिये कहना पड़ेगा कि गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहना आचार्य जिन सेन स्वामी

क्रम विरुद्ध समझते थे। इसलिये उन्होंने वैसा कथन नहीं किया। भाई मक्खनलालजीने इनके वचनोंको न समझनेके कारण वह मिथ्या लिखा है।

और भी प्रमाण

आचार्य गुणभद्र अपने समयके उद्भट आचार्य थे। भगवज्जिन सेनाचार्यके प्रधान शिष्य थे। भगवज्जिनसेनाचार्यके अधूरे महापुराणको इन्हीं आचार्य महाराजने पूरा किया था। आत्मानुशासनमें मुनियोंके लिये उन्होंने यह लिखा है—

इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशंत्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ।१९७।

(मुद्रित)

अर्थात् बड़े खेदकी बात है कि इस कलिकालमें मुनिगण जहां तहांसे भयभीत होकर वनसे आकर नगरके समीप रहते हैं। १९७।
विचारनेकी बात है जब स्वामी गुणभद्राचार्यने ग्रामके समीप बसना भी बुरा कहा है तब गांव नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें रहना भी उनके मतानुसार सर्वथा आगम विरुद्ध है।

और भी प्रमाण

आचारसारके कर्ता आचार्य वीर नंदी हैं। ये अपने समयके बहुत बड़े विद्वान सिद्धान्त चक्रवर्ती पदसे भूषित मूलसंघ, पुस्तक गच्छ, देशीय गणके आचार्य थे। इनके गुरुका नाम मेघचन्द्र था।

और ये विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें हुए थे। मुनियोंके रहने योग्य स्थानका आचार्य वीरनंदीने इस प्रकार वर्णन किया है—

इत्यस्तेयव्रते पञ्च भावनाः कन्दरादिषु
स्वभावशून्येष्वावासो मुक्तामोचितसद्मसु ।४५।

पर्वतकी गुफा पर्वतके शिखर आदि प्रदेशोंमें रहना तथा स्वभावसे ही शून्य-मुक्त और आमोचित मकानोंमें रहना इत्यादि पांच भावना अचौर्यव्रत की हैं। ४५। जो म ान स्वयं छोड़ा हुआ हो वह तो मुक्त है और दूसरे राजाकी चढ़ाई होनेपर जो जबरन छुडवा दिया गया हो वह आमोचित है। आचार्य वीरनंदीने इस श्लोकसे गाव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें मुनियोंका रहना नहीं कहा।

और भी प्रमाण

शून्यागारदरोगुहादिशुचिनि स्थाने विविक्तेस्थित-
स्तीक्ष्णैर्मत्कुणकीटदंशमशकाद्यैश्चंडतुंडैः कृतां
स्वांगार्तिं परदेहजातिमिव तां यो मन्यमानो मुनि-
र्निःसङ्गः स सुखी च दंशमशकक्लेशं क्षमी तं नुमः ८

अर्थ—जो मुनि सुने मकान, पर्वतकी गुफा आदि पवित्र एकांत स्थानमें रहता है, तीखे डंकवाले विषैले कीडे डांस मच्छर आदि से उत्पन्न पीडाको पर देहकी पीड़ाके समान मानता है, परिग्रह रहित है और डांस मच्छरोंकी पीडाको सुखके साथ सह लेता है

उस मुनिराजको हमारा नमस्कार है। ८। यहांपर आचार्य वीरनंदीने वन पर्वत आदि ही मुनियोंके रहने योग्य स्थान बताये हैं। इस अध्यायमें और भी बहुत श्लोक हैं, जिनसे मुनियोंके लिये वनवासका ही विधान किया है। प्रकरण बढ आनेके भयसे यहां उन श्लोकोंको नहीं प्रकाशित किया गया। यदि आचार्य वीरनंदीको गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना अभीष्ट होता तो वे कहीं तो उल्लेख करते?

और भी प्रमाण

पं० आशाधरजी अपने समयके बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने श्रावक और मुनि दोनोंके आचारोंका विस्तारसे वर्णन किया है। अनगारधर्मामृतमें मुनियोंके रहने योग्य क्षेत्रका वे इस प्रकार वर्णन करते हैं—

शून्यं पदं विमोचित मुतावसेद्भैक्ष्यशुद्धिमनुयस्येत्
न विसंवदेत्सधर्मभिरुपरुंध्यान्न परमप्यचौर्यपरः।

संस्कृत टीका—आवसेदधिवसेदचौर्यपरस्तृतीयव्रतनिष्ठः साधुः किंतत्। पदं स्थान। किं विशिष्टं, शून्यं निर्जनं गुहागेहादि, वत अथवा विमोचितं परचक्रादिनोद्वासित पदमावसेत। ५६।

अर्थात्—अचौर्य महाव्रतके पालन करनेवाले साधुको पर्वतकी गुफा वा मकान आदि शून्य निर्जन स्थानोंमें तथा दूसरे राजकी चढ़ाईसे जो ग्राम वा नगर उजड़ गये हों उनके मकानोंमें रहना चाहिये। ५६।

पृष्ठ० २१९ छपा

ध्यानके लिये एकांत स्थान कैसा होना चाहिये इसके लिये अनगारधर्मामृतमें इस प्रकार लिखा है…

यत्र न चेतोविकृतिः शब्दाद्येषु प्रजायतेऽर्थेषु ।
स्वाध्यायध्यानहृतिर्न यत्र बसतिर्विविक्ता सा ।

अ० ध० पृष्ठ ४९० छपा

अर्थ.. शब्द रूप आदि इन्द्रियोंके विषयोंमें जहां किसी प्रकारका विकार न हो और स्वाध्याय ध्यानमें अड़चन न पहुंचती हो वह एकांत स्थान कहा जाता है। एकांत स्थानके इस लक्षण से गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें मुनिगण नहीं रह सकते क्योंकि जिन मन्दिरोंमें तीनों समय पूजा आरती आदिके कारण कोलाहल होनेसे मुनियोंके ध्यान अध्ययनमें बाधा पहुंचेगी, इस लिये जो महानुभाव गांव-नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें मुनियोंका रहना मानते हैं वे भूल करते हैं।

भगवान अकलङ्कदेव विक्रमकी सातवीं आठवीं शताब्दीमें होगये हैं। भगवान अकलंक देव अपने समयके कितने बड़े प्रभाव-शाली आचार्य थे। कैसे कठिन समयमें इन्होंने बौद्ध धर्मसे जैन धर्मकी रक्षा की थी, जैनियोंका बच्चा २ इस बातको जानता है। राज वार्तिक ग्रन्थमें मुनियोंके रहने योग्य स्थानोंका भगवान अकलंक देवने इस प्रकार वर्णन किया है —

संयतेन.. अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तामोचितावासा

अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारम्भाः सेव्याः

अर्थात् संयमी मुनियोंको पर्वतकी गुफायें, वृक्षोंके कोटर आदि जो अकृत्रिम स्थान हैं उनमें रहना चाहिये तथा जिन स्थानों की रचना मुनियोंके उद्देशसे न हो ऐसे स्वयं छोड़े वा दूसरे राजा आदि द्वारा उजाड़े गये शून्य घर आदि कृत्रिम स्थानोंमें रहना चाहिये। कोलाहल पूर्ण स्थानोंमें नहीं रहना चाहिये। यदि गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहनेका विधान होता तो भगवान अकलंक देव इस बातका अवश्य उल्लेख करते परन्तु वैसा उन्होंने नहीं किया, इसलिये मानना होगा कि गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना शास्त्रोक्त नहीं। ये ही पंक्तियां ज्यों की त्यों श्लोक वार्तिकमें हैं। इसलिये श्लोक वार्तिकके कर्ता भगवान विद्यानन्दके मतानुसार भी मुनियोंका गांव-नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना सिद्ध नहीं होता।

और भी प्रमाण

आचार्य—सकलकीर्ति अपने समयके अच्छे विद्वान और अनेक ग्रंथोंके रचयिता हुए हैं। भट्टारक होनेपर भी मूलसंघकी आम्नायके ये कट्टर अनुयायी थे, प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें मुनियोंके रहने योग्य स्थानोंका उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है —

गिरिशून्यगृहावासान् ध्यानविध्वस्तकिल्विषान्।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन त्यक्तसर्वपरिग्रहान् ।२२।

प्रावृट्काले स्थितान् वृक्षमूले हेमंतिकेऽचलान्
चतुर्मार्गे च ग्रीष्मे तान् नगशृङ्गे मुनीश्वरान्३९
अनेकऋद्धिसम्पूर्णान् समर्थान् भव्यतारणे।
निर्भयान् सद्गुरून्नित्यं भज त्वं स्वर्गमुक्तये।४०।

अर्थ—पहाड़ अर शून्य घर विषै है स्थान जिनका अर ध्यान करि नष्ट किया है पाप जिनने अर बाह्य अभ्यंतर भेदकरि त्यागे हैं चौबीस प्रकारका परिग्रह जिनने।३२। अर वर्षाकालमें वृक्ष नीचैं तिष्ठे हैं अर शीतकालविषैं चौहटा विषैं अचल तिष्ठे हैं अर ग्रीष्म-काल विषैं पर्वतनिके शिखर विषै तिष्ठे है।३९। ऐसे अनेक ऋद्धिन करि सम्पूर्ण-भरे अर भव्यनके तारणे विषै समर्थ अर निरभय ऐसे [सदश सद्गुरु स्वर्ग अर मुक्तिके अर्थ नित्य ही सेवने योग्य हैं[(१)।४०। पृ० २९ लिखित

और भी प्रमाण

वज्रकाया महाधैर्या महासत्वाःशुभाशयाः।
परीषहसहा धीरा आदिसंहननान्विताः।७५।
ध्यानाध्ययनकर्मादि सर्वं गिरिगुहादिषु।
भवन्ति मुनयः कर्तुं समर्थास्त्यक्तदेहिनः।७६।

पं० पन्नालालजी चोधुरी कृत प्राचीन भाषा।

प्राप्य वसतिकां सारां ध्यानं वाऽध्ययनं तपः
मुनिः संहनने हीने कर्तुं शक्नोति नान्यथा।७७।

अर्थ—त्यागया है देह कहिये शरीरका ममत्व जिनने अर वज्र वृषभ संहननके धारी वज्रकाय ऐसे मुनि हैं ते महा धैर्यवान महा पराक्रमी शुभ है चित्त जिनका अर बाईस परीषहोंके सहनहारे अर धीर ऐसे आदि संहननके धारी अर ध्यान अध्ययन कर्मादिक सर्व गिरि गुफानिविषै मुनि हैं ते करनेकूं समर्थ होय हैं अन्य हीन संहननिके धारीनिकी सामर्थ्य नाहीं ।७५-७६। मुनि हैं सो हीन संहनन विषै सारभूत वसतिका ताहि प्राप्त होय ध्यान अध्ययन वो तप करनेको समर्थ होय हैं अर वसतिका विना समर्थ नाही होय। ७४।

आचार्य सकल कीर्तिने यहां मजबूत संहनन और कमजोर संहननके धारक दोनों प्रकारके मुनियोंके लिये रहने योग्य स्थानका उल्लेख किया है। हीन संहननके धारक मुनियोंके लिये वसतिका का विधान बतलाया है। यदि संहननकी कमजोरीके कारण मुनिगण पर्वत वन आदिमें नहीं रह सकते, तो वे वसतिकाओंमें ठहर सकते हैं। गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहनेको आचार्य सकलकीर्तिने भी आज्ञा नहीं दी। यदि गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना शास्त्रोक्त होता तो आचार्य सकलकीर्ति जरूर उसका उल्लेख करते। जो महानुभाव यह कहकर कि—आज कलके मुनिगण हीन शक्तिके धारक हैं वन पर्वतों पर वे रह नहीं

सकते अतः उनके लिये गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहना दूषित नहीं मानते, उन्हें आचार्य सकलकीर्तिके वचनोंपर ध्यान देना चाहिये । आचार्य सकलकीर्तिको हीनशक्तिके धारक मुनियोंका ख्याल था इसीलिये उन्होंने हीन शक्तिवाले मुनियोंके लिये वसतिकाका विधान किया है, यद्यपि मुनि मार्गकी शृंखला टूट जानेसे आजकल गांव नगरके बाहिर वसतिका नहीं दीख पड़ती तथापि बहुतसे मकान छत्रियां आदि दीख पड़ती हैं उनमें मुनिगण रह सकते हैं, यह बात ऊपर अच्छी तरह स्पष्ट की जा चुकी हैं ।

हम लोग प्रतिदिन संस्कृत पूजा पढ़ते हैं, संस्कृत पूजाकी जयमालमें मुनियोंके रहने योग्य स्थान इस प्रकार बतलाया है—

जे गिरिगुहकन्दरविवर थंति ।

अर्थात् मुनिगण पर्वतोंकी गुफा और कन्दराओंमें निवास करते हैं । इस जयमालमें भी मुनियोंका गांव नगरके भीतर चैत्यालयोंमें रहना नहीं कहा ।

पाठक महाशय हम न्यायके सामने प्रातः स्मरणीय भगवान कुंद कुंद समन्तभद्र वट्टकेर, जिनसेन पद्मनन्दी, गुणभद्र, आदि जैन धर्मके धुरन्धर आचार्योंके काफी प्रमाण रख चुके हैं। और भी अगणित प्रमाण हमारे पास हैं। उन्हें देनेसे एक दूसरा महापुराण बन सकता है क्योंकि 'मुनिगण वनमें ही रहते हैं' यह अनादि अनन्त सिद्धान्त है । समस्त आगम-साहित्य इस सिद्धांत से भरा पड़ा है । गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें मुनियोंके

रहनेका विधान तो किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें नही पाया जाता। जैन धर्ममें जबसे शिथिलाचार चला, खास कर भट्टारकोंके जमाने में जो ग्रन्थ बने उन्हींमें कहीं २ उल्लेख मिलता है। तुलना करने पर पूर्वाचार्योंके वचनही मान्य समझे जांयगे। अस्तु।

दिगंबर जैन समाजमें पं० बनारसीदासजी, भूधरदासजी, टोडरमलजी आदि भाषाके भी बड़े बड़े विद्वान हो गये हैं। इस समय जो भी दि० जैनधर्मकी पवित्रता सुरक्षित है उन्ही भाषाकार विद्वानोंकी कृपाका फल है। भाषाकार विद्वानोंने भी मुनियोंके रहने योग्य कौनसा स्थान बतलाया है, उसे भी हम यहां पाठकोंके सामने रखते हैं। पं० बनारसीदासजीने इस प्रकार लिखा है…

प्रासुक शिला उचित भू खेत अचलअङ्गसाम भावसमेत
पच्छिम रैन अलप निद्राल सो योगीश्वर बंचै काल

बड़ो स्तुति।

पं० बनारसीदासजीने प्रासुक शिला आदिका उल्लेख कर मुनियोंका रहना जंगलमें ही बतलाया हैं। गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें नहीं।

और भी प्रमाण

स्वर्गीय पं० भूधरदासजीकी गुरुस्तुति जैनियोंके बच्चे बच्चेको कंठ है उसमें मुनियोंका निवास स्थान जंगलही बतलाया है…

यह तन अपावन अशुचि है संसार सकल असार
ये भोग विष पकवानसे इस भांति सोच विचार

तब विरचिश्रीमुनि बनबसौ सबत्यागिपरिग्रह भीर
ते साधु ।२।

जे कांच कञ्चन सम गिनै अरि मित्र एक स्वरूप
निन्दा वडाई सारिखी बनखंड शहर अनूप ।३।

जे वाहूथ पर्वत वन वसैं गिरि गुहा महल मनोग
शिल सेज, समता सहचरी, शशिकिरन दीपकजोग
मृग मित्र भोजन तपमयी विज्ञान निर्मल नीर
ते साधु ।४६।

और भी आगेके पद्योंमें बनहीका विधान है। गांव नगरके भीतर चैत्यालयोंमें मुनियोंका रहना कहीं भी नहीं बताया गया।

और भी प्रमाण

आचार्यतुल्य प० टोडरमलजी साहबका जैन समाजपर महान उपकार है। यदि पूज्य मलजी साहब न जन्म लेते तो आज श्रीगोम्मटसार सरीखे महान ग्रंथका भाव कोई जल्दी समझ ही नहीं सकता था। मलजी साहबका मत मुनियोंके रहनेके विषयमें इस प्रकार है:—

"कलिकाल विषैं तपस्वी मृगवत् इधर उधरतैं भयवान होय बनते नगरके समीप आय बसैं हैं यह महा खेदकारी कार्य भया। यहाँ नगर समीप ही रहना निषेध्या है, तो नगर विषैं रहना तो निषिद्ध भयो ही। मोक्ष मार्ग प्रकाश पृ० १५९

मलजी साहबके इन वचनोंसे उन लोगोंको शिक्षा लेनी चाहिये जो कि मुनियोंका गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें रहना पुष्ट करते हैं। पं० टोडरमलजी अपने समयके प्रभावशाली विद्वान थे। वे भी गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें मुनियोंका रहना उचित बता सकते थे, परन्तु उन्होंने इस बातको शास्त्रोक्त न समझा, इसलिये गांव नगरके भीतर मुनियोंका जिनमंदिरोंमें रहना शास्त्राज्ञाके प्रतिकूल है। पूज्यमलजी साहिबने और भी यह लिखा है।

"बहुरि जिन मंदिर तो धर्मका ठिकाना है तहां नाना कुकथा करनी सोवना इत्यादि प्रमाद रूप प्रवर्ते। मोक्ष मार्गप्रकाश पृ० २७० मुनिगण यदि गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें रहेंगे तो वही सोवेंगे उन्हें भी अवश्य प्रमाद-दोष लगेगा।

और भी प्रमाण

पं० सदासुखजीने अनेक ग्रंथोंकी भाषा-टीका की है अर्थ प्रकाशिकामें वे शून्यागार विमोचितावास इत्यादि सूत्रकी टीकामें मुनियोंके रहने योग्य स्थान इस प्रकार बतलाते हैं

शून्य गृह जो पर्वत गुफा वनवृक्षकोटरादिकनिमें बसना अर परका छोड़ा हुआ अर उजड़ा स्थानमें बसना।" यहांपर पं० सदासुखजीने गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें मुनियोंका रहना नहीं बतलाया।

और भी प्रमाण

पं० दौलतरामजी जैनधर्मके अच्छे प्रभावशाली विद्वान और

कवि थे। जैन समाजमें पंडितजीके पद्योंका काफी प्रचार है। जैनधर्मकी बारीकसे बारीक कथनो भी बड़े सुन्दर और सरल ढंगसे उन्होंने पद्योंमें भर दी है क्रियाकोषमें उन्होंने मुनियोंके रहनेको स्थान इस प्रकार बतलाया है:—

मुनि हैं निर्भय वनवासी एकांत वास सुखरासी।
निज ध्यानी आतम रामा जगकी संगति नहिं कामा
जे मुनि रहनेको थाना वनमें कारहिं मतिवाना
ते पावैं शिव सुरथाना यह सूत्र प्रमाण बखाना।२१

पण्डित दौलतरामजीने 'सूत्रप्रमाण बखाना' यह लिखकर यह स्पष्ट ही कर दिया है कि शास्त्रानुसार मुनियोंका निवास स्थान वन ही है। यदि गांव नगरके भीतर जिन मंदिरोंमें मुनियोंके रहनेका विधान होता तो यहां वे इस बातका भी जरूर उल्लेख करते।

और भी प्रमाण

ज्ञानानन्द श्रावकाचार ग्रंथमें मुनियोंके रहने योग्य स्थानका वर्णन इस प्रकार किया गया है।

बहुरि मुनि ध्यान विषै गरक हुआ सौम दृष्टिको धर्‌या है अर याय नगरादिकसे राजा वन्दवा आवें हैं सो वह मुनि कहां तिष्ठे है—कैतो मसान भूमिका विषैं। कैतो पुराना वन विषैं। कभी तो पर्वतकी कन्दरा कहिये गुफा विषैं। अर कैतो पर्वतके शिखर विषैं, अर कभी तो नदीके तीर विषैं अर कैतो उजाड़ अटवी विषैं कैतो

एकांत वृक्ष तलैं अर वसतिका विषैं अथवा नगर बाह्य चैत्यालय विषैं इत्यादिक रमनीक मनको लगानेका कारण उदासीनताका कारण ऐसे स्थानक विषैं तिष्ठे हैं।पृ० ८।

और भी प्रमाण

रत्नकरंड श्रावकाचारकी टीकामें मुनियोंके रहने योग्य स्थान का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

कैसे हैं दिगम्बर यातैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र इत्यादिक गुणनिको निधान हैं। बहुरि कैसे हैं याते नही है अंतरंग बहिरंग परिग्रह जिनके ऐसे मठ मकान उपासरा आश्रमादिक रहित एकाकी अथवा गुरुजनाकः चरणाको लार कदै वनमें कदै पर्वतनिकी निर्जन गुफानिमें कदै घोर वनमें नदीनिके तटनिमें नियम रहित है नित्य विहार जिनका इत्यादि पृ०१८९। और भी भाषा ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं परन्तु विद्वान पाठकोंके लिये इतने ही पर्याप्त हैं। जहांपरभी भाषा शास्त्रोंमें गुरुओं का वर्णन है वहांपर उनका रहना वनमें ही बतलाया है। यदि गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना शास्त्रानुकूल होता तो वह भी भाषा शास्त्रोंमें लिखा दीख पड़ता परन्तु वह कहीं भी भाषा शास्त्रों में नहीं पाया जाता इसलिये यही कहना होगा कि गांव नगरके भीतर मुनियोंका जिन मन्दिरोंमें रहना बतलाना शास्त्रके विरुद्ध है।

प्राकृत संस्कृत और भाषा शास्त्रोंके आधारसे मुनियोंका निवास स्थान वन ही है, इस बातको जानकर भी बहुतसे महानुभावोंका यह कहना है कि आदर्श मार्ग तो वनका रहना ही है

किन्तु मन्दिरोंका रहना भी अपवाद मार्ग है परन्तु यह बात ठीक नहीं। गांव नगरके भीतर मन्दिरोंमें यदि मुनिगण रहेंगे तो उनका मुनिपना सुरक्षित नहीं रह सकता, क्योंकि ध्यान अध्ययन ही मुनियोंका खास कर्त्तव्य है। वह एकांत शांत स्थानोंमें ही हो सकता है। गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंका स्थान शांत एकांत स्थान नहीं। इन महानुभावों के कथनानुसार भट्टारक ग्रन्थो के आधारसे यदि गाँव नगरके भीतर जिन मन्दिरो का रहना अपवाद मार्ग कह कर अपना लिया जाय तो अपवाद मार्ग तो और भी हैं उन्हें भी मान लेना होगा। वि॰ सं॰ १६०० में भट्टारक श्रुतसागर सूरि हुए हैं उन्हो ने तत्त्वार्थ सूत्रपर एक टीका लिखो है उसके संयम श्रुत प्रति सेवनेत्यादि सूत्रपर द्रव्यलिंगी मुनियोंके लिये इस प्रकार लिखा है —

लिंगं द्विभेदं द्रव्यभावलिंगभेदात् तत्र—भावलिंगिनः पंचप्रकारा अपि निग्रन्था भवंति। द्रव्यलिंगिनः, असमर्था महर्षयः शीतकालादौ कंवलादिकं गृहीत्वा न प्रक्षालयंति न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वंति। अपरकाले परिहरंती। भगवत्याराधनाप्रोक्ताभिप्रायेण कुशीलापेक्षया वक्तव्य ।

अर्थात्—द्रव्यलिंग और भावलिंगके भेदसे मुनिलिंग दो प्रकार

का है। भावलिंगी पांच प्रकारके हैं और वे सभी निर्ग्रंथ होते हैं। परीषहोंके सहनेमें असमर्थ द्रव्यलिंगी मुनि शीत कालमें कंबल आदि ग्रहण करते हैं उसे वे धोते सीमते नहीं न उसकी रक्षार्थ कोई दूसरा प्रयत्न करते हैं। शीतकालके चले जानेपर वे कंबलको छोड़ देते हैं यह कथन कुशील मुनिकी अपेक्षा भगवती आराधनाके कथनके अनुसार लिखा है।

यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि द्रव्य लिंगी और भावलिंगी मुनिकी पहिचान दिव्यज्ञानीके सिवाय दूसरा नहीं कर सकता; क्योंकि दोनों ही प्रकारके मुनियोंका वाह्य लिंग समान रहता है, वाह्य चरित्रका आराधन भी समान रूपसे करते हैं, विशेष क्या द्रव्य लिंगीको भी यह पता नहीं लगता कि मैं द्रव्यलिंगी हूं फिर न मालूम श्रुत सागर सूरिने द्रव्यलिंगीकी इतनी मोटी पहिचान से कैसे बता दी। इतनी मोटी पहिचानसे द्रव्य लिङ्ग मुनिपर श्रद्धा होना कठिन हैं। श्रुत सागर सूरिके हिसाबसे यदि कंबल न ग्रहण करें तो वह भावलिंगीभी हो सकता हैं। जान नहीं पड़ता ऐसा क्यों लिखा गया। जो हो मुनिके लिये श्रुत सागर सूरिने शीतकालमें कंबल लेनेका विधान किया है। क्या इसे भी अपवाद मार्ग मानकर अपना लिया जा सकता है?

ब्रह्मदेव जी वि० सं० १६०० में हुए हैं इन्होंने परमात्मप्रकाश की टीका लिखी है, उसमें इस प्रकार लिखा है—

परमोपेक्षासंयमाभावे तु वीतरागशुद्धात्मानुभूतिभावसंयमरक्षणार्थं विशिष्ट

संहननादि शक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्याय शरीरसहकारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानो-पकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोति। गाथा २१६ पृ० २२२

अर्थात् तावक समयके न रहने पर वीतराग शुद्धात्मानुभूति रूप संयमकी रक्षाके लिये बलवान संहनन आदि शक्तिके अभावमें तपके कारण शरीरके सहकारी खाना पीना संयम शौच ज्ञानके उपकरण चटाई आदिको मुनि ग्रहण कर लेते हैं पर उसमें ममता नहीं रखते। यहां पर ब्रह्मदेवके मतानुसार मुनिगण चटाई लपेट कर आहारके लिये नगरमें आसकते हैं। क्या इसे भी अपवाद मार्ग कहकर स्वीकार किया जा सकता है? यदि कोई महानुभाव इन भ्रष्ट बातोंकी भी पुष्टि करे तो मैं तो यही कहूँगा इससे मुनिव्रत न धारण करना अच्छा। शककी नवमी शताब्दीमें मुनियोंके अन्दर इतनाही शिथिलाचार शुरू हुआ था कि वे रात्रिमें गांवके समीप आकर रहने लगे थे, इसके बाद वह शिथिलाचार बढ़ताही चला गया और आगेचलकर वह शिथिलाचार भट्टारक रूपमें परिणत हो गया, निर्ग्रंथताका ही लोप हो गया। मुनियोंके लिये शीतकालमें कम्बल आदिका भी विधान होने लगा। तथा खास समय पर चटाईका लपेटना भी दूषित नहीं समझा जाने लगा परन्तु जीवोंके शुभोदयसे पं० बनारसी दासजी आदि महानुभावोंने जन्म लेकर शिथिलाचारकोसत्यानाशी प्रथाका महत्व कम कर दिया।

नहीं तो न मालूम जैन धर्म आज किस रूपमें दीख पड़ता। अस्तु अनेक धुरन्धर आचार्य और विद्वानोंके पुष्ट प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि मुनियोंका निवास स्थान जंगलही है यही अनादि अनन्त सिद्धांत है। गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें जो मुनियोंके रहनेका विधान किया गया है। वह शिथिलाचारिय की कृति है, क्योंकि प्राचीन शास्त्रोंमें कहीं भी वैसा विधान नहीं मिलता। इस लिये पं० मक्खनलाल जी और उनके हिमायती जो गांव नगरके भीतर मुनियोंका जिन मन्दिरोंमें रहना शास्त्रानुकूल बतलाते हैं वह उनका भ्रम है। यहांतक हमने खण्डन की ओर दृष्टि न डाल कर जैन सिद्धांतकी असलियतका निरूपण किया है। अब हम पं० मक्खनलाल जीने जो अनेक प्रमाण (प्रमाणाभास) देकर गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरों में मुनियोका रहना सिद्ध कर सच्चे दिगम्बर धर्मको मलिन बनाने की कुचेष्टा की है। उस पर विचार करते हैं।

मुनियोंके जिनमन्दिरवासपर दिये गये
शास्त्रीय प्रमाणोंका
खंडन

सबसे पहले हमे यहां यह बतला देना बहुत ही जरूरी है कि पं० मक्खनलालजीने जो ट्रैक्ट लिखा है वह बिलकुलही बे सिल सिले लिखा है क्योंकि प्रथम तो यही नहीं मालूम होता कि इस ट्रैक्टकी भूमिका कहां तक है। पृष्ट नं० ८ में जहां पर पण्डित जीके खूब मोटे अक्षरोंमें दस्तखत हैं, भूमिकाकी समाप्ति वहीं जान पड़ती है परन्तु आगे बढ़नेसे जान पड़ता है कि 'चर्चा सागर पर शास्त्रीय प्रमाण' इस हेडिंगके आगे भी भूमिकाका विषय लिखा गया है और पण्डितजी को जिन्हें कोसना था उन्हें बुरी तरह कोसा गया है। पहिले आठ पृष्टोंकी भूमिकामें जो बातें लिख दी गई है उन्हें ही फिर लिख मारा है। अपनेको विद्वान माननेवाला व्यक्ति भूमिका का भी विषय न समझे, सच मुचही एक बड़े आश्चर्यकी बात है। ऐसी जल्दी किस कामकी जिससे विद्वता ही धूलमें मिल जाय! यदि हम मित्रता वा समान धर्मीपनेके नातेसे पण्डितजीके इस बलवान दोषपर न भी दृष्टिपात करें तथा 'चर्चा-सागरपर शास्त्रीय प्रमाण' इस हेडिंगके बादको लिखनेके भी

भूमिका काही विषय समझ लें, तबभी पृष्ठ नं० ९ पर 'धर्मबन्धुओसे निवेदन' इस हेडङ्गके पढ़नेके बाद भूमिकाकी समाप्ति झलकने लगती है। परन्तु और भी आगे पढ़नेपर यह स्पष्ट मालूम होता है कि पण्डितजीकी भूमिको समाप्त हीं नहीं मालूम होती। रह२ कर उन्हें जो बातें सूझती जाती हैं लिखे ही मारे जाते हैं। कोसते २ उनका पेट ही नहीं भरता। अच्छा होता कुछ समय सोचकर एक साथ ही वे खूब पेटभर गाली दे लेते। पण्डितजीकी इस थोथी पण्डिताईकी मूर्ख लोग भले ही तारीफ करें, विद्वान लोग तो इस बे शिर पैरकी लेखन शैलीकी कभी तारीफ नहीं कर सकता। अस्तु पृष्ठ नं० १८ पर 'मुनियोंके नगरमें रहनेके सम्बन्धमें विचार' इस हेडिङ्गसे आगे हम इस ट्रैक्टकी शुरुआत समझते हैं पर फिर आगे देखते हैं कि—गाली देते देते पण्डितजी नहीं हारते। क्या किया जाय आदतकी लचारी है। पण्डितजीका मुख उनकी निजी संपत्ति है। वह गालियोंसे भरा पड़ा है। दूसरी कोई चीज उसके अन्दर नहीं जान पड़ती थिर वे धर्मदृष्टिसे तत्त्वपर कैसे विचार कर सकते हैं? अब हम पण्डितजीके गाली गलौजका उत्तर न देकर खास बातकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करते हैं—

पृष्ठ नं० १९ में प० मक्खनलालजी लिखते हैं कि—"चर्चासागरका अभिप्राय तो इतना ही है कि आजकल मुनि वनोंमें नहीं रह सकते इसलिये वे जिन मन्दिरजी आदि शून्य स्थानोंमें नगरोंमें भी रह सकते हैं इसका अर्थ यह करना कि चर्चासागरने मुनियोंके वनमें निवास करनेका सर्वथा निषेध ही किया है यह समाजको

धोखा देना और उलटा समझाना है" इत्यादि। पंडितजीके इन शब्दोंपर विशेष टीका टिप्पणी न कर चर्चासागरमें जो लिखा है उसे हम ज्योंका त्यों यहां उद्धृत किये देते हैं। पाठक स्वयं विचार कर लेंगे कि पं० मक्खनलालजीका लिखना कहांतक सच्चा है—

चर्चासागर चर्चा १६ पृ० १७ मुद्रित प्रति

"प्रश्न—इस पंचमकालमें इस वर्त्तमान समयमें होनेवाले मुनिराज किस क्षेत्रमें ठहरें? वन, उपवन, पर्वत, गुफा, नदीके किनारे, श्मशान आदमें निवास करें अथवा किसी और जगह भी अपनी स्थिति रक्खें। समाधान—इस पंचमकाल वर्तमान समयमें होनेवाले मुनियों की स्थिति श्री जिनमन्दिरजीमें बतलाई है। यह बात श्रीपद्मनंदी पंचविंशतिकाके छठे अधिकारमें लिखी है।

संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे (!) मुनिस्थितिः।
धर्मस्य (!) दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥६॥

धर्मका दान देनेके लिये एक श्रावक ही मूल कारण हैं। भावार्थ इस वर्तमान समयमें श्रावक ही धर्म सुननेके पात्र हैं इसलिये मुनिराजोंकी स्थिति जिनालयोंमें होनेसे ही श्रावकोंको लाभ पहुंच सकता है। श्री इन्द्रनन्दीने नीतिसारमें भी लिखा है।

काले कलौ वनेवासो वर्जनीयो मुनीश्वरैः।
स्थीयेत च जिनागारग्रामादिषु विशेषतः ॥ १६ ॥

१ कलिकालमें मुनियोंकी स्थिति जिनालयमें ही है २ कलिकाल में मुनियोंको वनमें निवास नहीं करना चाहिये। आजकल बहुतसे

लोग मुनियोंके जिनालयमें निवास करनेपर नुक्ता चीनी करते हैं परन्तु यह उनकी भूल है जब शास्त्र में स्पष्ट आज्ञा है तब इसमें शङ्का करना व्यर्थ है।"

यहांपर हमने चर्चासागरकी पंक्तियां ज्योंकी त्यों उद्धृत करदी हैं। खास शब्दोंके नीचे रेखा भी लगा दी हैं। कहिये पण्डितजी! क्या अब भी आप यह कह सकेंगे कि चर्चासागरमें मुनियोंका केवल जिनमन्दिरोंमें रहना नहीं लिखा। आश्चर्य है इतने बड़े झूठ को आपने छिपानेकी क्यों कोशिश की! अब आप ही विचार लें समाजको धोखा आप दे रहे हैं या कोई दूसरा! 'मुनियोंकी स्थिति जिनालयमें ही है' चर्चासागरमें इन शब्दोंके रहते भी उन्हें नहीं स्वीकार करना सचमुच ही बड़े साहसका काम है।

पृ० नं० २० में 'संहणणस्स गुणेणाय' इत्यादि श्लोक भाव संग्रह ग्रन्थका उद्धृत किया है। इस श्लोकमें स्थविरकल्पी मुनियों को पुर नगर गांवका बसनेवाला बतलाया है इसलिये इस श्लोकके आधारसे पंडितजीने यह लिख मारा है कि मुनिगण पुर नगर गांवोंके अन्दर जिनमन्दिरोंमें रहते हैं। परन्तु पंडितजीका यह लिखना ठीक नहीं। पुर नगर गांवके रहनेका विधान अनादिकाल से है और उसका मतलब यह है कि मुनिगण पुर नगर गांवोंके बाहिर उद्यान-बाग बगीचे, वनोंमें ठहरते हैं। दूसरी जगह उनका रहना बाधित है। इस विषयको अनेक युक्ति और शास्त्रीय प्रमाण से अच्छी तरह ऊपर सिद्ध कर दिया गया है। पुर नगर गांवोंके भीतर जिन मन्दिरोंमें आकर मुनिगण रहते हैं ऐसा कहीं भी

उल्लेख नहीं, न कोई शास्त्रों में ऐसी कथा ही मिलती है। किन्तु जो मुनि पुर नगर गावोंर उद्यान बगीचे आदि बाहिर स्थानों ठहरते हैं उन्हें ही पुर नगर गांव वासी कहा जाता है। यदि पुर नगर गावके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना शास्त्रोक्त होता तो आचार्य देवसेन यह स्पष्ट ही लिखदेते उन्हें भय किस बातका था। जब उन्होंने पुर नगर गांवके भीतर जिन मन्दिरों में मुनियोंका रहना शास्त्रोक्त नहीं समझा तभी उन्होंने नहीं लिखा। पुराणोंका स्वाध्याय करनेवाले भी इस मोटी बातको जानते हैं कि मुनिगण गांव शहरमें आकर उनके बाहिर बाग बगीचोंमें ठहरते हैं। मालो आदिके मुखसे मुनिराजका आगमन सुन लोग उनकी वन्दनाको वनोंमें जाते हैं। फिर न मालूम पंडित मक्खनलालजीसे यह बात क्यों विना जानी रह गई? मालूम यही होता है कि इस बातको खूब जानकर भी अपने निन्दित मतको पुष्टिकेलिये पंडितजीने चाल चली है। सिद्धांतकी जरासी बात न जाननेसे अपनी विद्वत्तापर बट्टा लगाया है। पंडित मक्खनलालजीने पुर नगर गावके भीतर जिन मन्दिरोंमें मुनियोंका रहना बताकर पवित्र मुनिधर्मपर ही कुठाराघात नहीं किया, लोगोंको सिद्धांतके विपरीत तत्व सुझाया है।

पृष्ठ २१ में स्थविर और जिनकल्पी मुनियोंका भेद और उनका स्वरूप समझानेके लिये कई श्लोक उद्धृत कर अनेक पत्र वृथा रंग डाले हैं। तथा अपनी ओरसे ही गढकर यह बात भी लिख डाली है कि—"बहुतसे लोग यह समझते हैं कि स्थविर कल्पी और जिनकल्पी भेद श्वेताम्बर मतमें है। दिगम्बर मतमें नहीं इत्यादि।

पंडितजीकी इस फिजूलकी कल्पनासे हम बहुत दुखी हुए हैं। स्वाध्याय करनेवाले व्यक्ति कमसे कम पुराणोंका स्वाध्याय तो करते ही हैं। हम ऊपर श्रीआदिपुराणजीके कई श्लोक उद्धृत कर आये है उनमे जिनकल्पी और स्थविर कल्पी मुनियोंका स्पष्ट उल्लेख है। जब पुराणो के स्वाध्याय करनेवालोंको भी जिनकल्पी स्थविरकल्पी मुनियो का ज्ञान हैं तब विद्वान तो उनका स्वरूप अच्छी तरह समझते ही हैं। फिर न मालूम पंडितजीने ऐसी कल्पना क्यों कर डाली। पण्डितजी भले ही हमसे नाराज हो जांय, पण्डितजीकी इस कल्पनासे तो हम यही समझते हैं कि ट्रैक्टके लिखनेके पहिले पण्डितजीने शायद जिनकल्प और स्थविर कल्पका स्वरूप अच्छी तरह न समझ रक्खा हो। उन्हें यह नई बात सूझ पड़ी होगी इसलिये अपनी बुद्धिके अनुसार उन्होंने वैसी कल्पना कर डाली। इस कल्पनाके उल्लेखसे तो यही पता चलता है कि इस बारीक बातके जानकार पण्डितजी ही हैं और सभी मूर्ख हैं। जिनकल्प और स्थविरकल्पका स्वरूप समझानेसे तो यही जान पड़ता है कि पण्डितजीने सारी समाजको विद्यार्थी मान रक्खा है और उसे वे पाठ पढ़ा रहे हैं। क्या किया जाय आदतकी लाचारी है क्योंकि पण्डितजी एक विद्यालयके अध्यापक हैं। उन्हें पाठ पढ़ाना न सूझेगा तब किसे सूझेगा ?

इसके बाद फिर पण्डितजीने भूमिका उठाई है और विस्तारसे अपनी कल्पनाकी बहार झलकाई है जो कि बिलकुल व्यर्थ है बहुत सी झूठी बातें लोगो के रिझानेको लिये लिखी हैं जो कि बिलकुल

-व्यर्थ हैं। इन सबका उत्तर भूमिकासे ही प्राप्त होगा। यहां लिखना प्रकरण विरुद्ध है। प्रतिहिंसा की भावनासे जैसा पण्डितजीका माथा अशांत रहा प्रकरण बे प्रकरणका जरा भी ख्याल न कर जहां उन्हें जो बात याद आई वहीं लिख मारी वैसा हमारा माथा अशान्त—गर्म नहीं। हमें तत्वपर विचार करनो है जिससे जैन धर्मकी पवित्रता सुरक्षित बनी रहे।

पृष्ठ नं० २७ में 'पंचम चरिए पक्खड़' इत्यादि गाथा त्रिलोक -सारकी उद्धृत की है। इस गाथामें पंचम कालके अन्त तक मुनियोंको सत्ता बताई गई है। यह गाथा उद्धृत कर पण्डितजी ने यह शिक्षा दी है कि लोग जो कहते हैं कि पंचम कालमें मुनि हो ही नहीं सकते यह बात ठीक नहीं क्योंकि त्रिलोकसारके बच- नानुसार पंचम कालके अंत तक मुनिगण रहेंगे" इत्यादि। यहा पर भी पंडितजीने अध्यापकी छोंकी है। जब प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमीको यह बात मालूम है कि भरतक्षेत्रमें पंचमकालके अन्त तक मुनि रहेंगे, तब न मालूम पंडितजीने यह बात क्यों वृथा लिखी। देने बैठे हैं चर्चासागर पर शास्त्रोय प्रमाण और लिख रहे हैं यहा वहांकी बे प्रकरण बातें। इसी लिये तो पण्डितजोका ट्रैक बढ गया है, नहीं तो जो बातें उन्होंने कामकी समझ कर लिखी हैं वे ८ पृष्टसे ज्यादाकी नहीं है। पाठकही बिचारें जब पंचमकालके अन्त तक मुनि रहेंगे। प्राय: सभी स्वाध्यायप्रेमी लोग यह बात जानते हैं तब पंडितजी को यह पाठ पढ़ानेकी क्या आवश्यकता थी। हमें तो यहां भी यही मालूम होता है कि

गई बात जानकर ही पण्डितजीने यह बात लिख मारी है।

पृ० नं० २८ में 'भरहे दुस्समकाले' इत्यादि गाथा षट्पाहुड़ ग्रन्थकी उद्धृत की है। इस गाथामे पंचमकालमें भरत क्षेत्रके मुनियोंमे धर्मध्यान होता है यह बतलाया है। यह गाथा उद्धृत कर पण्डितजीने समझाया है कि "पञ्चमकालमें भी मुनियोंके धर्म ध्यान होता है" इत्यादि। पण्डितजीका यह उल्लेख करना भी व्यर्थ ही है क्योंकि जब चौथे ही गुणस्थानसे धर्म ध्यानका विधान है तब भावलिंगी मुनियोंके तो वह होगा ही। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी यह बात जानता है। पृष्ठ नं० २८ मे 'अज्जवि तिरियण सुद्धा' इत्यादि गाथा उद्धृत की है। इस गाथामें लिखा है कि पंचम कालके मुनि रत्नत्रय धारण कर इन्द्र पद वा लौकांतिक पद प्राप्त कर मोक्ष जाते हैं।" नहीं मालूम होता पंडितजी यह क्या पाठ पढ़ाते ही चले जाते हैं क्योंकि सच्चे मुनियोंके लिये यह बात क्या कठिन है? इसी २८ वें पृष्ठमें 'ये कथयंति महाव्रतिनो न विद्यंते ते नास्तिका जिनसूत्रबाह्या ज्ञातव्या' अर्थात् जो लोग कहते हैं कि आजकल महाव्रती होतेही नही है वे नास्तिक और जिन सूत्रसे बाहिर हैं।" इत्यादि लिखा हैं यह भी लिखना व्यर्थ है। जब पंचमकालमें मुनि है तब वे महाव्रती तो होंगे ही। न मालूम इन फालतू बातोंसे ट्रैक्ट बढ़ानेमें पण्डितजीने क्या महत्व समझ रक्खो है। हमने भी यह सोच लिया हैं कि पण्डितजीने विद्वत्ताकी कुछ पर्वा नहीं की है लोगोंको रिझानेको उन्होंने ठान ठानली है। इसलिये पण्डितजीकी ऊटपटांग बातों पर दुख मनाना व्यर्थ है।

पृष्ठ नं० २८ में हो "मुनि चैत्यालयोंमें निवास करते हैं इसके और भी प्रमाण।' यह खूब मोटे अक्षरोंमें हेडिङ्ग दिया है। यहां पर तो पण्डितजोने आंखोंमें धूलही झोंकी है। हमारा पाठकों से निवेदन है कि वे शुरूसे उनतालिसवें पेज तक पढले, कही भी कोई भी मुनियोंके जिन मन्दिरोंमें रहनेका प्रमाण नहीं दिया। स्थविर कल्पी मुनियोंके लिये एक जगह पुर नगर ग्राम वासी होने का उल्लेख किया जिसका कि मुनि, पुर नगर गावके उद्यान वाग बगीचोंमें ठहरते हैं यह शास्त्रोक्त अर्थ है। यही नहीं यहा पर पण्डितजी लिखते हैं—कि "इस पंचमकालमें मुनिगण पुर नगर, गावमें निवास करते हैं। इतना स्पष्ट प्रमाण होनेसे अब अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है फिर कतिपय और प्रमाणों द्वारा हम मुनियोंका निवास चैत्यालय आदि स्थानोंमें होता है इस बात को और भी खुलासा करते हैं।" यह लिखकर तो पंडितजीने कमाल ही कर डाला है। इतने बड़े झूठकी भी कुछ हद है। यहां तक एक भी तो प्रमाण नहीं दिया गया। फिर न मालूम पंडितजी किस बुनियाद पर यह लिख रहें हैं? हम इस विषयमें अधिक क्या लिखें पाठक स्वयं सोच लें पण्डितजो कितने सत्यवक्ता है? अस्तु

पृष्ठ नंबर ३० में 'कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः' इत्यादि रत्नमालाका श्लोक उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि कलिकालमें मुनिगण वनका रहना छोड़कर गांव आदिमें जिन मन्दिरोंमें रहते हैं। ग्रन्थके अन्तमें शिवकोटि पद आया है इस लिये ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार न कर रत्नमालाके कर्ताको पण्डित

जीने भगवान समन्तभद्राचार्यके शिष्य, प्रसिद्धग्रन्थ भगवती आराधनाके कर्ता, आचार्य शिवार्य वा शिवकोटि समझ लिया है। यहां पर हमारा इतना ही लिखना पर्याप्त है कि रत्नमालाके क शिवकोटि वि० सं० १५०० में भट्टारक हो गये हैं। ये खुद मन्दिरवासी भट्टारक थे। उस समय जिन मन्दिरोंमे रहनेका शिथिलाचार बड़े जोरोंसे विद्यमान था। इसलिये समयकी प्रगतिके अनुसार भट्टारक शिवकोटिने वैसा लिख दिया है। इस ग्रन्थमें और भी कई बातें सिद्धान्त विरुद्ध हैं। सम्भवतः उस समयमें इन बातोंका प्रचार देख भट्टारक शिवकोटिने उन्हें लिख दिया है। इतिहासका जहां हमने उल्लेख किया है भट्टारक शिवकोटिके विषयमें हम खुलासा लिख आये हैं। यदि इस ग्रन्थकी बातोंको हम प्रमाण मानते हैं तो उत्तर पुराण, आदि पुराण, मूलाचार, आदि महान ग्रन्थोंसे विरोध आता है। जैन शास्त्रोंमें सिद्धान्त विषयक विरोध हो नहीं सकता। रत्नमाला ग्रन्थकी अपेक्षा आदिपुराण आदिकी बातें मान्य माननी होगी। इसलिये रत्नमालामें जो गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमे रहनेका विधान है वह समयकी प्रगतिके अनुसार है, सिद्धान्तके अनुकूल नहीं।

पं० मक्खन लालजीने रत्नमालाके कर्ता शिवकोटि भट्टारकको समन्त भद्राचार्यके शिष्य भगवती आराधनाके कर्त्ता आचार्य शिवार्य वा शिवकोटि मान लिया हैं, यह उनकी भूल है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यदि विचार किया जाता तो वे समझ सकते थे परन्तु इतनी मिहनत करे कौन? पर ऐसा जल्दीका फल समझदारों

की दृष्टिमें बुरा होता है। आगमकी बातोंकी कुंजियोंपर विचार न कर जिसप्रकार पुर नगर गांववासीका अर्थ, पुर नगर गावोंके बाग बगीचोंमें मुनि ठहरते हैं, यह सच्चा अर्थ पंडितजीको सूझ नहीं पड़ा। उसी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार न करनेके कारण वि० सं० १५०० में होनेवाले भट्टारक शिवकोटिको उन्होंने विक्रमकी प्रायः दूसरी सदीमें होनेवाले भगवती आराधनाके कर्ता आचार्य शिवार्य वा शिवकोटि समझ लिया, यह कितना बड़ा प्रमाद है। विशेष परिश्रम न कर यदि पं० मक्खनलालजी दोनों ग्रन्थोंकी रचनाका भी मिलान कर लेते तो भी वे रत्नमालाके कर्ता भट्टारक शिवकोटि को, भगवती आराधनाके कर्ता आचार्य शिवार्य वा शिवकोटि कहने की बड़ी भारी भूल न कर डालते। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि—एक आचार्यकी दो कृतियोंमें एक तो प्राय. एकसी भाषा रहती है। यदि एकसी भाषा न भी रहै तो भाव और शैलीमें भिन्नता नहीं रहती। भगवती आराधना ग्रन्थ प्राकृत भाषामें है। रत्नमाला संस्कृत भाषामें है। भगवती आराधनाकी रचना बड़े गम्भीर भावको लेकर की गई है। रत्नमालाकी रचनामें एकदम हलकापन और गम्भीरताका नाम तक नहीं है। संस्कृतकी कविता भी महत्व नहीं रखती फिर न मालूम पंडितजीने भगवती आराधना और रत्नमालाका कर्ता एक कैसे बता दियो। आश्चर्य है!!! यह बात जरूर है कि इस बातकी छानबीनके लिये विवेक पूर्ण विचारकी जरूरत थी। आदिसे अन्ततक ग्रन्थ दोनों देखने पड़ते, जिससे महान कष्ट होता। यहां तो जल्दी मान बड़ाई लूटनेकी अभिलाषा

थी। परिश्रम कैसे किया जाता? धर्म विरुद्ध बातके पोषनेके लिये ऐसी मान बड़ाईके लिये धिक्कार है।

पृ० ३० में 'जिनेन्द्रमन्दिरे सारे' इत्यादि धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचारका श्लोक उद्धृत किया है, इसका अर्थ यह है कि सार जिन मन्दिरोंमें मुनिजन ठहरते हैं। पंडितजीने इस श्लोकको उद्धृत कर यह लिख मारा है कि "मुनिगण जिन मन्दिरोंमें निवास करते हैं और इसके द्वारा यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना मुनियोंका शास्त्र विरुद्ध नहीं।" यहां तो पण्डितजीने अपनी पंडिताईको ही बिसार दिया है। यह बात शास्त्रोक्त हैं कि जिस समय मुनिगण आहार विहारके लिये गमन करते हैं उस समय मार्गमें जिन मन्दिर आनेसे वे उनमें दर्शनके लिये जाते हैं। वहां ठहरकर गृहस्थोंको उपदेश भी देते हैं, प्रश्नोत्तर श्रावकाचारके कर्ताने "स्थितं कुर्वन्ति योगिनः" अर्थात् मुनि गण ठहरते हैं, यही लिखा है। स्थिति का अर्थ ठहरना हैं क्यों कि व्याकरण शास्त्रमें स्था, धातुसे भाव अर्थमें क्तिन् प्रत्यय करनेसे 'स्थिति' शब्द बनता है। स्था धातुका अर्थ गति निवृत्ति अर्थात् चलते २ ठहर जाना है। पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि चलते२ ठहरना जभी हो सकता है कि जब रास्तेमें मुनि जारहे हों और जिन मन्दिर जान वे उसमें ठहर जांय। जब प्रश्नोत्तर श्रावकाचारके कर्ताने स्थिति शब्दका प्रयोग कर यह स्पष्ट हो कर दिया हैं कि जिनमन्दिर जान मुनि, ठहर जाते हैं तब न मालूम यहां पर इस श्लोकसे पं० मक्खनलालजीने मुनियोंका जिन मन्दिरोंमें

निवास करना यह अर्थ कैसे निकाल लिया ? पण्डितजीने जो सबसे छोटा व्याकरण लघु कौमुदी पढी है उसमें भी तो स्था धातु आई है। क्या वह भी भुला दी गई ? यदि पंडितजी ग्रन्थका प्रकरण भी देख लेते तो भी उन्हें सच्चा अर्थ मालूम हो जाता, पर इतनी मिहनत कौन करे। मिहनत करना तो पंडितजी जानते ही नहीं। जो हो यहाँ तकके पण्डितजीके ट्रेक्ट पर विचार करने पर हमें तीन बातोंका खुलासा हुआ है प्रथम तो यह है कि--'पुर नगर गांवका शास्त्रोक्त अर्थ न कर सिद्धान्त ज्ञानका फीकापन जाहिर किया है। दूसरे—भगवती आराधना और रत्नमालाका कर्ता एक बताकर इतिहासकी अनभिज्ञता प्रगट की है। तीसरे स्थिति शब्दका ठीक अर्थ न समझ, व्याकरण ज्ञानका कोरापन जचा दिया है।

पृष्ठ—३१ में

"संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे (!) मुनिस्थितिः
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्।

अर्थात्—वर्तमान कलिकालमें मुनियोंकी स्थिति जिन मन्दिरमें बतलाई है, और उसी मुनि स्थितिसे धर्म और दान प्रवर्तित होते हैं और इन सब बातोंके—अर्थात् जिन मन्दिरोंमें होनेवाली मुनि स्थिति, धर्म और दान इन सबके मूल कारण श्रावक होते हैं।" इस श्लोकमें 'जिनगेहो' की जगह 'जिनगेहे' यह अशुद्ध पाठ गढ कर और उसी पाठके अनुसार शास्त्रोंके विरुद्ध अर्थ कर पद्मनन्दि पञ्च-

नि शतिकाका श्लोक उद्धृत किया है। ऊपर अनेक शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारसे यह हम अच्छी तरह सिद्ध कर आये हैं कि गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें मुनियोंका रहना शास्त्र विरुद्ध है पद्म० पञ्चविंशतिकाके आधारसे भी वह सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि पांडे चंपालालजीने पद्म० पंच० काके श्लोकको अशुद्ध गढ़ कर ऐसा जबरन अर्थ किया है। पं० मक्खनलाल जीने भी पांडे चंपालालजीकी गलती पर विचार नहीं किया है। उसे ठीक ही मान लिया है। अस्तु इस श्लोकसे जिन मन्दिरोंमें मुनियोंका रहना सिद्ध होता है या नहीं इस विषय पर थोड़ा सा हम विचार किये देते हैं।

सबसे पहिले यहां यह समझ लेना जरूरी है कि 'संप्रत्यत्र कलौ काले' इस श्लोकके किस शब्दको अशुद्ध गढ़कर 'मुनियोंका जिन मन्दिरोंमें रहना' सिद्ध किया गया है? उसका खुलासा यह है कि वह 'जिनगेह' शब्द है। शुद्ध पाठ 'जिनगेहोमुनि स्थितिः' ऐसा है और उसका अर्थ जिन मन्दिरोंका बनवाना और मुनियोंकी स्थिति करना यह होता है जोकि आगमके अनुसार ठीक है। पांडे चम्पालाल जीने 'जिनगेहोकी जगह' 'जिनगेहे' यह पाठ मनसे गढ़ा है जिसका कि अर्थ जिन मन्दिरोंमें मुनि रहते हैं यह होता है। यह अर्थ आगमके विरुद्ध है। पद्मनन्दी आचार्यके मतानुसार ऐसा भ्रष्ट अर्थ नहीं हो सकता। उसका खुलासा इस प्रकार है—

प्रथम तो बात यह है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे दशवीं शताब्दी

के पहिलेके किसी भी मूल संघके ग्रन्थमें मुनियोंका गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरमें विधान नहीं पाया जाता क्योंकि शक ८२० (वि० स० ९५५) में उत्तर पुराणको समाप्त करनेवाले भगवज्जिनसेनके शिष्य श्री गुणभद्राचार्यने आत्मानुशासन ग्रन्थमें मुनियों का ग्राम नगरके समीप रहना भी दूषित बतलाया है। इससे जान पडता है कि उस समयके दिगम्बर मुनियोंमे इतना ही शिथिलाचार जारी हुआ था कि उन्होंने गांव और नगरोंके समीप आकर रहना शुरू किया था यदि उस समय मुनिगण गाव और नगरोंके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहते तो गुणभद्राचार्य इस बातका जरूर उल्लेख करते। आचार्य गुणभद्रके गुरु भगवज्जिनसेनाचार्यने मुनियोंको ग्राममें रहनेका निषेध किया है। आचार्य पद्मनन्दी भगवज्जिनसेनाचार्यके पहिले हो गये हैं।* उनके समयमेंतो गांव नगर के भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना सम्भव हो नहीं सकता। दर्शनसार में आचाय पद्मनन्दीके बारेमें इस प्रकार लिखा हुआ हैं—

सिरिवीरसेण सीसोजिणसेणो समल सत्थविण्णाणी
सिरि पउमणंदि पच्छा चउसंघसमुद्धरण धीरो।३०

अर्थात्—श्रीपद्मनन्दी आचार्यके पीछे श्री वीरसेन स्वामीके शिष्य श्री भगवज्जिनसेनाचार्य समस्त शास्त्रोंके पारगामी और चारो प्रकारके संघके उद्धार करनेमें धीर वीर हुए।३०।

---

* यद्यपि आचार्य पद्मनन्दिका समय विवादास्पद है क्योंकि पद्मनन्दी नामके कई आचार्य हो गये हैं परन्तु जबतक ठीक निर्णय नहीं होता तब तक यह समय निराधार भी नहीं माना जा सका।

तस्स य सीसो गुणवयगुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो
पक्खुवसा सुद्धमदी महातवो भावलिंगो य ।३१

अथात्—भगवज्जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणवान दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण पक्ष पवास शुद्ध बुद्धिके धारक महा तपस्वी भावलिंगी मुनि गुणभद्र हुए ।३१। दर्शनसारके इस पुष्ट प्रमाणसे यह बात सिद्ध है कि आचार्य पद्मनन्दी भगवज्जिनसेनाचार्यसे पहिले हुए हैं उनके समयमें मुनियो के जिन मन्दिरो में रहनेका जिक्र भी न था इस लिये आचार्य पद्मनन्दीकी बनाई पद्म० पंचविंशतिकासे मुनियोंका जिन मन्दिरोंमें रहना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। चर्चा सागरके कर्त्ताने पद्म० पंचविंशतिकाके श्लोकको अशुद्ध गढ़कर उसका जबरन प्रमाण दे डाला है। इस लिये 'जिनगेहो मुनिस्थितिः अर्थात् जिन मन्दिर और मुनियोंकी स्थिति दो बातें भिन्न २ हैं किन्तु जिनगेहे मुनिस्थितिः अर्थात् जिन मन्दिरोंमें मुनि रहते हैं यह बात नहीं।

दूसरे—पद्मनन्दी पंच विंशतिका ग्रन्थ पर पं० जौहरी लालजी और पं० पन्नालालजी फिदुकाकी हिन्दी टीका है। टोडरमलजी सदासुखदासजी आदि भाषा टीकाकारों के वचन आचार्य वचनके समान ही प्रमाण माने जाते हैं उक्त दोनों पण्डितों ने 'जिनगेहा मुनिस्थितिः' यही पाठ रखकर—"अबारमा इस कलि-काल विषें जिन मन्दिर करावना तथा आहार दान देने करि मुनी-श्वरनिकी शरीर की स्थिति करना इस प्रकार जिनगेह और मुनिस्थिति इन दोनों भिन्न पदोंका भिन्न २ अर्थ किया है। इस

रूपसे एक तो मूल पाठ 'जिन गेहो मुनिस्थितिः' और दूसरे भाषा कारने भी उसी पाठका अर्थ किया है इस लिये इस पुष्ट प्रमाण से भी मुनियोंका जिन मन्दिरोंमे रहनो नहीं बन सकता अतः जिन गेहो मुनिस्थितिः यही पाठ शुद्ध हैं।

तीसरे पद्म० पञ्चविंशतिकामे पहिले तो यह श्लोक है—

संप्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेनैतेऽपि च गण्यंते गृहस्था धर्महेतवः॥५॥

अर्थ— अबार इस कालके विषैं भी धर्म पूर्वोक्त है, सो तिसही मार्ग करिकैं आश्रित सकल देश रूपही प्रवर्तै है ता कारण करिकैं ये गृहस्थ हैं ते भी धर्मका कारण कहिये हैं।५। इसके बाद 'संप्रत्यत्र कलौकाले जिनगेहो मुनिस्थिति' यह श्लोक है जो चर्चा सागर के कर्ताने प्रमाण रूपमें लिया है। पहिले श्लोकमे ग्रन्थकारने 'धर्मस्तेनैव वर्त्मना, यह लिखा है इसका अर्थ यह है कि पूर्वकाल (चौथेकालमें) जिस प्रकार धर्म सकलरूप और देश रूप था। उसी प्रकार अब इस कलिकालमे भी प्रवर्तमान है—उसमें किसी प्रकारका हेरफेर नही। तथा चतुर्थकालके श्रावकोंके समानही इस कालके श्रावकभी धर्मके कारण हैं। विचारनेकी बात है कि जब आजकलके श्रावक चौथे कालके समानही धर्मके कारण हैं तब चतुर्थ कालमें तो मुनियोंका जिन मन्दिरोंमे रहनेका कहीं विधान नहीं और न कहीं यह लिखा है कि गृहस्थ जिन मन्दिरोंमें मुनियों को रख सकते है, तब आजकल मुनि गांव नगरके भीतर जिन

मन्दिरोंमें रहे तो उसी रूपसे धर्म कहां रहा तथा श्रावक उन्हें जिन मन्दिरोंमें रक्खे, तो चौथे कालके श्रावकोंके समान आजकलके भी धर्मके मूल कारण कैसे हो सकते हैं। यह तो चौथे कालकी अपेक्षा मुनिधर्मका परिवर्तन हो गया और चौथे कालके समान श्रावक भी नहीं ठहरे तब ग्रंथकारका 'तेनैव वर्त्मना' अर्थात् धर्म उसी रूपसे प्रवर्तता है यह वचनही निरर्थक हैं। इस लिये मानना होगा कि चौथे कालमें जिन मन्दिरोंमें रहना मुनिधर्म न था वैसा आजकल भी मुनिधर्म नहीं हो सकता तथा चौथे कालमें जिस प्रकार श्रावक मुनियोंको मन्दिरोंमें नहीं रख सकते थे उसी प्रकार आज भी वे वैसा नहीं कर सकते। तथा और भी यह बात है कि—

'संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहो मुनिस्थितिः इस आगेके श्लोक में श्रावकोंका धर्म वर्णन करते हुए आचार्य महाराजने स्पष्टही कर दिया है कि जिस प्रकार पूर्वकालमें जिन मंदिरोंका बनवाना, मुनियोंकी स्थिति (मर्यादा) कायम रखना, धर्मका प्रवर्तावना और दान देना ये बातें श्रावकों द्वारा होती थीं इस लिये इन बातों के मूल कारण उस समयके श्रावक थे उसी प्रकार इस समय इस कलिकालमें भी ये बातें श्रावकों द्वारा होती हैं इस लिये आजकलके श्रावक भी धर्मके मूल कारण हैं। 'संप्रत्यत्र कलौ काले" ये वाक्य—पूर्वकालके श्रावकोंके साथ आजकलके श्रावकोंकी तुलना देनेही लिये ग्रंथकारने लिखे हैं, जिसका पोषण पूर्व श्लोकमें प्रयुक्त हुए 'अपि' शब्दसे भी होता है। नहीं तो इनका लिखना व्यर्थ

था और इतनाही कहना काफी था कि श्रावक इन बातोंको कराते हैं। तथा यह पहिले कहा जा चुका है कि पूर्वकालमें गांव नगर के भीतर जिन मन्दिरोंमें रहनेका कहीं विधान नहीं तब आचार्योंके वचनों को पलट कर जिन मंदिरोंमें मुनियोंका रहना जबरन सिद्ध कर देना बड़े भारी साहसका ही काम समझना चाहिये।

चौथे—'स प्रत्यत्र कलौ काले' इस श्लोकके बाद पद्म० पंच विंशतिकामे यह श्लोक हैं—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।

अर्थात—देव पूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह श्रावकोंके नित्यकर्म हैं।७। इस श्लोकके देनेका तात्पर्य यह है कि 'संप्रत्यत्र कलौ काले' इस श्लोकमें जिन मंदिर, मुनिस्थिति धर्म और दान इन चारों बातोंके जुदा २ रहनेसे जिन मंदिरोंके बनवानेसे तो देव पूजा मुनिस्थिति करनेसे गुरुसेवा, धर्मसे स्वाध्याय संयम और तप और दानसे दान इन आवश्यक कर्मोंकी पुष्टि होती है। यदि जिन मंदिरोंका बनवाना श्रावकोंका मुख्य कार्य न रहेगा तो जिस प्रकार दान आदिके मूलकारण श्रावक कहे गये हैं, उस प्रकार जिन मंदिरोंके बनवानेमें मूलकारण श्रावक नहीं हो सकते, क्योंकि मंदिरोंके बनवानेवाले श्रावक ही होते हैं, शास्त्रों में जगह २ यह लिखा है।

पांचवें—जब जिन मंन्दिरोंको श्रावक ही बनवाते हैं, तब श्राव-

कोंकी दान आदिकी महिमा वर्णन करने पर जिन मंदिरोंके बनाने की महिमाका भी तो ग्रंथकारको पद्मनंदी पंचविंशतिकामें वर्णन करना चाहिये था सो नहीं किया; क्योंकि "जिन गेहे मुनि-स्थितिः" जिन मन्दिरोंमें मुनि रहते हैं ऐसा पाठ माननेसे जिन मंदिरोंमे मुनियोंका रखना तो श्रावकोंका मुख्य कार्य ठहरता है परन्तु श्रावकोंका जिन मन्दिरका निर्माण करना मुख्य कर्तव्य सिद्ध नहीं होता। इस अध्यायमें केवल श्रावकोंकी महिमाका वर्णन है यहां श्रावकोंकी महिमाके वर्णनमें जिन मन्दिरोंको जो श्रावक बनवाते हैं इस महिमाका वर्णन करना बहुत जरूरी है। इस अध्यायमें और किसी श्लोकसे जिन मन्दिरोंका बनवाना श्रावकोंके लिये मुख्य कर्तव्य बतलाया नहीं। श्रावकोंकी महिमाकी खास बात भूल जाना यह आचार्य पद्मनंदी सरीखे महानुभावोंसे असम्भव है इस लिये जिनगेहो मुनिस्थितिः' अर्थात् जिन मन्दिर और मुनिस्थिति इस जुदे २ अर्थवाला ही पाठ शुद्ध है।

इसप्रकार—अनेक प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध है कि मुनियोंका पद्मनन्दी पञ्चविंशतिकाके आधारसे जिन मंदिरोंमें ही रहना सिद्ध करना चर्चासागरकर्त्ताकी मनगढ़ंत कल्पना है। किसी भी प्रकार वह पद्मनंदी आचार्यका सिद्धान्त नहीं हो सकता। इसलिये विशेष शास्त्रकी जानकारी न रखनेसे पांडे चम्पालालजीसे जो भूल हो गई सो तो हो गई किन्तु आज इस पक्षकी खींचातानी करनेवाले कतिपय विद्वान भी बराबर भूल कर रहे हैं। उन्हें तो सोच-समझकर चालना चाहिये।

चर्चासागरके कर्ताने जिन मन्दिरोंमें ही मुनियोंकी स्थिति सिद्ध करनेके लिये दूसरा प्रमाण इंद्रनंदी नीतिसारका (१) यह दिया है। "काले कलौ वनेवासो वर्जनीयो मुनिश्वरै, स्थीयेत च जिनागार ग्रामादिषु विशेषतः।" उसका तात्पर्य यह है कि इस कलिकालमें मुनीश्वरोंको वनमें नहीं रहना चाहिये, बहुतकर उन्हें जिनमन्दिर ग्राम आदिमें रहना चाहिये। भट्टारक इंद्रनंदीके इन वचनोंसे भी 'कलिकालमें मुनिगण जिनमन्दिरोंमें ही रहते हैं' यह बात सिद्ध नहीं होती, इसपर भी हम यहां थोड़ासा विचार किये देते हैं—

इन्द्रनन्दी कई हो गये हैं। नीतिसारके कर्ता भट्टारक इंद्रनंदी तेरहवीं शताब्दीके बाद हुए हैं। तेरहवीं शताब्दीमें मुनियोंके अन्दर जिनमन्दिरोंमें रहनेका शिथिलाचार शुरू हो गया था। इंद्रनंदीजीने भी जिनमन्दिरोंमें रहना प्रारम्भ कर दिया था, इसलिये अपने स्वभावके अनुसार उन्होंने ऐसे मुनियोंको जिनमन्दिरोंमें ठहरनेकी रायमात्र दी है, फिर भी सब मुनियोंको जिनमदिरोंमें ठहरनेका उन्होंने विधान नहीं किया है।

दूसरे—'काले कलौ वनेवासो वर्जनीयो मुनीश्वरैः' इत्यादि

(१) यह श्लोक इंद्रनंदी नीतिसारमें नहीं है संहिताका जान पड़ता है।

श्लोकमें 'स्थीयेत'और वर्जनीयः इन दो क्रियाओंका उल्लेख किया है 'स्थीयेत' यह विधि लकारका क्रिया है। विधि, निमन्त्रण, आमंत्रण, अभीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना इन अर्थोंमें व्याकरण शास्त्रके अनुसार विधिलकारका प्रयोग होता है। विधिका अर्थ विधान कर देना वा

सिद्धांत रूपसे कहना होता है। भट्टारक इंद्रनंदी 'स्थीयेत' इस क्रियाका प्रयोग विधिलकारमें तो कर नहीं सकते थे; क्योंकि उनके पूर्वकालीन आचार्य गुणभद्र, जिनसेन, पद्मनन्दी, समंतभद्र आदि ने मुनियोंको जिनमंदिरोंमें रहनेका कहीं विधान नहीं किया, तब इंद्रनंदी उस बातका कैसे विधान कर सकते थे। निमंत्रण, आमंत्रण आदि अर्थोंकी यहां योग्यता नहीं, इसलिये प्रार्थना अर्थमें उन्होंने यहां विधिलकारका प्रयोग किया है। अर्थात् मुनीश्वर पद देकर उन्होंने यह प्रार्थना की है कि इस कलिकालमें मुनीश्वरोंको वनमें न रहकर जिनमंदिर ग्रामआदिमें रहना चाहिये। इस रूपसे कलिकालमें मुनियोंका जिनमंदिरमें ही रहना इंद्रनंदी महाराजके वचनोंसे सिद्ध नहीं होता।

तीसरे—मुनीश्वरोंको वनका रहना छोड़ देना चाहिये। जिनमंदिर ग्राम आदिमें रहना चाहिये। इंद्रनंदी महाराजके इन वचनोंसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय कुछ मुनि जिनमंदिरोंमें रहने लगे थे: किन्तु धीरवीर मुनि उस समय तक भी वनवासी ही थे, इसलिये मुनीश्वर शब्दका प्रयोग कर इंद्रनंदी महाराजने धीरवीर मुनियोंसे भी यह प्रार्थना की है कि आप लोगोंको भी अब वनका रहना छोड़कर जिनमंदिर ग्राम आदिमे रहना चाहिये।

चौथे—'विशेषतः' पद देकर तो भट्टारक इंद्रनंदीने स्पष्ट ही कर दिया है कि बहुत कर जिनमंदिर ग्राम आदिमें रहना चाहिये अर्थात् इसका मतलब यह है कि यदि धीर-वीर मुनि वनोंमें रहें

तो उनकी खुशी पर अब बहुत कर जिनमंदिर ग्राम आदिमें रहना ठीक है।

इस रूपसे भट्टारक इंद्रनंदीके वचनोंसे भी यह नहीं सिद्ध होता कि मुनियोंको जिनमंदिरोंमें ही रहना चाहिये। फिर चर्चा सागरमें इंद्रनंदीके वचनोंसे जो यह लिख मारा है कि मुनियोंको जिनमंदिरोंमें ही रहना चाहिये यह उनकी धींगाधींगी है। राय देने अथवा प्रार्थना करनेसे कोई बात सिद्धांत नहीं हो जाती। सच्चे मुनि इस प्रकार शिथिलाचारकी पोषण करनेवाली राय वा प्रार्थनाको कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

इस रीतिसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि चर्चा सागरके कर्ता पांडे चम्पालालजीने जिन दो प्रमाणोंके आधारसे 'मुनियोंका केवल जिनमंदिरोंमें रहना' सिद्ध करना चाहा था वह नहीं हो सका। इसलिये चर्चासागरके प्रमाणोंके अनुसार जो महाशय दिगंबर मुनियोंकी स्थिति जिनमंदिरोंमें ही मानते हैं वे गलती पर हैं।

जो हो 'संप्रत्यत्र कलौ काले' इस पद्म० पंच० काके श्लोकसे 'मुनि जिनमंदिरोंमें नहीं रह सकते' इस बातको अच्छी तरह बता दिया गया, साथमें जिनमंदिरोंमें मुनियोंकी सिद्धिके लिये जो इंद्रनंदी भट्टारकका प्रमाण दिया है, उससे भी वह बात सिद्ध नहीं हो सकती, यह भी लिख चुके। अब हम पं० मक्खनलालजीने 'संप्रत्यत्र कलौ काले' इस श्लोकपर जो अडबंड भाष्य लिख मारा है, उसपर विचार करते हैं—

सबसे पहिले आपने भाई रतनलालजी झांझरीको कोसा है सो तो आपका आहार ही है। हम आपके आहारमें खलल डालना नहीं चाहते। खूब मजेसे आप पेट भर सकते हैं। आगे चलकर आपने लिखा है—"जिनगेहे इस पाठको पं० गजाधरलालजी न्याय-तीर्थने अशुद्ध बताया था और कहा था कि जिनगहो पाठ ठीक है" इत्यादि। इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि मैंने अवश्य जिनगेहे यह सप्तम्यन्त पाठ अशुद्ध बताया था तथा ऊपर लिखे अनेक शास्त्रीय प्रमाणोंसे वह अशुद्ध ठहरा भी दिया गया। वहांपर जिनगेहो यह प्रथमांत पाठ ही शुद्ध है। जिनगहो यह पाठ तो शुद्ध हो हो नहीं सकता, क्योंकि घर अर्थका कहनेवाला गह शब्द संस्कृत भाषामें नहीं है फिर मैं कैसे उस पाठको शुद्ध कह सकता था। भाई मक्खनलालजी! मैं व्याकरण कोषका कुछ बल रखता था, इतनी गलती मुझसे नहीं हो सकती, व्याकरण कोषको जान-कारीमें मुझे आप कोरा सिद्ध करनेकी चेष्टा न करें, आप अपनी रक्षा करें।"

आगे चलकर आपने लिखा है कि हमें एक अशुद्ध प्रति दिखाई थी उसमें जिनगहो यह अशुद्ध पाठ था, पद्म पंच० ग्रंथपर एक भाषा टीका है टीकाकारने भी कुछ विचार न कर उस अशुद्ध पाठ का ही अर्थ किया है जो कि टीकाकारकी गलती है इत्यादि। इस पर हमें यह कहना है कि पद्मनंदि पंचविंशतिका ग्रंथपर स्वर्गीय विद्वद्वर पं० जौहरीलालजी व० पं० मन्नालालजी साहब खिंदूका इन दो विद्वानोंकी हिंदी टीका है। ये महोदय जैन सिद्धांतके अच्छे

ज्ञाता थे। किसी भी श्लोकका सिद्धांत विरुद्ध अर्थ इनसे नहीं हो सकता। पंडित मक्खनलालजीने स्वर्गीय पं० जोहरीलालजी व प० मन्नालालजी साहब खिंदुकाको अज्ञानो बताकर उनका घोर अपमान किया है। जिन महानुभावोंकी कृपासे पवित्र जैन धर्म की रक्षा हुई हैं, जिन्होंने अनेक ग्रंथोंकी टोका कर हमें ज्ञान दान दिया हैं, उन परमोपकारी विद्वानोको अज्ञानी कहना हमारी धृष्टता हैं।" क्यों न हो, जहां आचार्यकल्प प्रातः स्मरणीय पं० टोडरमलजी साहबको भी मामूली पंडित कह दिया जाय वहां और विद्वानोंको अज्ञानी कह देना कोई बड़ी बात नहीं। 'अधजल गगरी छलकत जाय'।

आगे चलकर आप लिखते हैं—"पं० जी (गजाधरलाल) युवकमंडलके कार्यकर्ताओ के अनुगंता हैं, इसलिये वे किसी शास्त्र के विषयमें कुछ भी कह दें तो आश्चर्यकी 'बात नहीं" इत्यादि। यहांपर पंडित मक्खनलालजीसे मेरा यह निवेदन है कि आप मेरे दोषोंको स्पष्ट ही क्यों न कर देते ? घबड़ाते क्यों हैं ? चर्चासागर के विरोधमें आवाज उठानेवाले भाई रतनलालजी झांझरीको जिस प्रकार आपने विधवा विवाह-पोषक और सुधारक कह डाला हैं जिन बातोंकी उनमें गन्ध तक नहीं उसी प्रकार मुझे भी उनबातोंका प्रचारक कह डालिये। छुट्टी हुई युवक मण्डलीके कार्यकर्ताओंका अनुगंता कहकर ही क्यों दिल शांत कर लिया। किसीको बढ़-वारी न चाहने वाले व्यक्तिका ऐसाही खास गुण होना चाहिये। मिहिरबान ! आप किसीको भी कुछ कह सकते हैं। मर्जी आप की।

आपने लिखा है—"वीर नि०सं० २४४० में गजाधर लालने पद्म० पंचविंशतिकाका स्वयं अनुवाद किया है। उसमें जिनगेहे यह सप्तम्यंत पाठ ही रक्खा है। अब वे यदि उसे अशुद्ध बतलावें तो" इत्यादि। इसके उत्तरमें निवेदन यह है कि मैंने जो अनुवाद किया है वह जिनगेहो इस प्रथमांत पाठका ही किया है चर्चासागरके मतानुसार सप्तम्यंत पाठका नहीं। पण्डितजी मुझे वृथा बदनाम कर समाजको धोखा दे रहे हैं। वह मेरा अनुवाद ज्यों का त्यों इस प्रकार है—

"अर्थः—और इस कालमें श्रावकगण बड़े बड़े जिनमन्दिर बनवाते हैं। तथा आहार देकर मुनियोंके शरीरकी स्थिति करते हैं। तथा सर्व देश एक देश रूप धर्मकी प्रवृत्ति करते हैं और दान देते हैं इस लिये इन सबोंके मूलकारण श्रावकही हैं, अतः श्रावक धर्म भी अत्यन्त उत्कृष्ट है।" ६। पृ० १९५ छपी प्रति।

पाठक मेरे अनुवादको पढ़ें। मैंने जिनगेहो इस प्रथमांत पाठकाही अर्थ किया है जिन मन्दिरका बनवाना और मुनियोंकी स्थिति करना ये दो बाते मैंने जुदी २ लिखी हैं। कहिये पण्डितजी! अब और क्या धोखा देना चाहते हैं? क्या आपने यही समझ लिया था कि मेरा पद्म० पंच० का ग्रन्थका अनुवाद लोगोंके देखनेमें आयगाही नहीं। खेद है!!!

छपी प्रतियोंमेंसे कुछ प्रतियोंमें जिनगेहे पाठ छप गया था, वह छापेकी गलती है। दूसरी प्रतियोंमे "जिनगेहो" यही पाठ छपा है। मेरे पास दोनों प्रतियां मौजूद हैं। जिन्हें प्रूफ शोधनेका काम

पड़ा हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि कोई २ गलती छपते समय मशीन पर पकड़ी जाती हैं और उस समय उसे सुधारा जाता है। जो फार्म गलती सुधारनेके पहिले छप जाते हैं उनमें तो वह गलती रह ही जाती है किन्तु बाकीके फार्म शुद्ध छपते हैं। पद्म० पंच विंशतिकाके छपते समय यही हुआ था। मशीन पर गलती सुधरी दीखती है। श्लोकका अर्थ देखना चाहिये वह किस पाठका किया है। अर्थ "जिनगेहो" इस प्रथमांत पाठका ही किया गया है इसलिये प्रथमांत "जिनगेहो" यही पाठ शुद्ध मानना होगा। मामूली आदमी भी यह जान सकता है कि जिस पाठका अनुवाद जाता है अनुवादकका वही पाठ शुद्ध माना जाता है जब मैंने "जिन-गेहो" इसी प्रथमांत पाठका अर्थ किया है तो पाठ वही शुद्ध मानना होगा। यदि जिनगेहे यह सप्तम्यंत पाठ मुझे शुद्ध जंचता तो मैं 'जि मन्दिरोंमें मुनि रहते हैं' यह अनुवाद करता परन्तु मैंने 'जिनमन्दिर बनवाना और मुनियोंकी स्थिति करना' यह भिन्न २ अर्थ किया है जो कि जिनगेहो इस प्रथमांत पाठकाही अर्थ होता है पण्डित जी आपने विचार शक्तिका एकदम दिवाला खोल दिया है। क्या आप इतनाभी विचार नहीं कर सकते थे ? जहां पर शास्त्र विरुद्ध झूठे पक्षका हठ है वहां विचार शक्तिका निर्मल रहना असंभव है।न कृपाकर मेरे लिखे प०म० प च० काके अनुवादको फिरसे पढ़ें मैंने बिलकुल ठीक लिखा हैं। आप उसे झूठा नहीं बता सकते।

आगे आपने लिखा हैं—"जिनगेहे" पाठ न मान कर 'जिनगेह' यही पाठ ठीक समझा जाय तो फिर श्लोकमें 'संप्रत्यत्र कलोकाले'

ये पद क्यों दिये गये हैं इत्यादि । महाराज ! यहां पर तो आपने खोटी विचार शक्तिही पूरी कर डाली। यदि आप पद्म० पंच विंशतिका ग्रन्थ देख लेते तो आपको ऐसे कुतर्कोंके लिये मौकाही न मिलता। "स प्रत्यक्ष कलौकाले" इन शब्दोंके देनेका तात्पर्य यह है कि चौथे कालमें श्रावक जिस प्रकार जिन मन्दिर बनवाते थे, मुनियोंकी स्थिति रखते थे, धर्म और दान करते थे उसी प्रकार आजकल कलिकालके श्रावक भी करते हैं, इस लिये चौथे कालके समान आजकलके श्रावक भी जिन मन्दिर आदिके करनेमें मूल कारण हैं। आचार्य पद्मनन्दीने आजकलके श्रावकों की विशेष महिमा दिखानेके लियेही 'कलिकाल' शब्दका प्रयोग किया है क्योंकि कलिकालमें धर्मकी विमुखतासे श्रावकोंकी रुचि चौथे कालके श्रावकोंके समान नहीं भी रह सकती, परन्तु वह अब भी वैसीही बनी है यह बड़े महत्वके साथ आचार्य महाराजने लिखा है। ग्रन्थको खोलकर पूर्वापर विचार किया न जायगा श्लोकको देखकर ही विचारकी तरंगे बांध दी जायगी तब सभी बातपर कैसे विचार किया जा सकता है ? कृपा कर आप एक बार पद्म पंच० ग्रन्थका फिर स्वाध्याय करें और पूर्ववर्ती श्लोकमें प्रयुक्त "अपि" शब्द पर भी ध्यान दें। आपको ही जान पड़ेगा कि 'कलिकाल' पद देनेका ग्रन्थकारका क्या अभिप्राय है।

आगे आपने एक संस्कृत टीकाका हवाला देकर यह बतलाया है कि उसमें 'जिनगेहे' यह सप्तम्यंत पाठ है और उसका अर्थ 'मुनि जिन मन्दिरोंमें रहते हैं'-यही होता है इत्यादि। यहां पर मेरा

आपसे यह निवेदन है कि आपने और जो प्रमाण दिये हैं वहां उन ग्रन्थों और उनके कर्ताओंके नाम लिखे हैं। इस टीकाका क्या तो नाम है ? कौन उसका कर्ता है ? किस समय वह बनी ? यह भी तो लिखना चाहिये। परन्तु आपने इस बातका जिक्रतक नहीं किया। टीकाके शब्दोंसे इस बातका पता चलता है कि यह टीका किसी आचार्यकी लिखी नहीं है। आपने जो श्लोकका अर्थ दिया है ठीक ठीक उससे मिली जुली है। संभव है आपका लिखा वह अर्थ भाषाका हो और यह संस्कृतका हो और उसीका टीका नाम रख दिया हो। पद्म० पं० ग्रन्थका प्रकरण देख कोई आचार्य वैसी टीका कर नहीं सकता। यदि की है तो कहना होगा यह भूल है।

आपने लिखा है—झालरापाटन बम्बई आदिकी प्रतियोंमें "जिनगेहे" यह सप्तम्यंत ही पाठ है, इस लिये 'मुनिगण जिन मन्दिरों में रहते हैं" यह बात शास्त्र विरुद्ध नहीं, इत्यादि। क्षमा कीजिये पण्डित जी ! यह आपकी बहानाबाजी है। हमें जैपुरके नामी विद्वानोंकी भाषा टीका 'जिनगेहो इस प्रथमांत पाठकी मिल रही है और यह अर्थ प्राचीन मान्य आचार्योंके मतानुसार है। दूसरे जिस समय मैंने अनुवाद किया था तब ५-६ प्रतियोंके आधारसे किया था सबोंमें जिनगेहो यह प्रथमांतही पाठ था इस लिये अनुवाद भी उसी पाठका किया गया है। यदि आपके मतानुसार जिनगेहे यह सप्तम्यंत पाठ मिलता तो मैं उसीका अनुवाद करता। आज तो यह बात झगड़ेका कारण बन गई है १८ वर्ष पहिले तो

कोई झगड़ा न था। मैं कोई अंतर्यामी भी न था जो आजके झगड़ेको चितार कर पहिलेही संभल जाता। मेरा तो यह निजी अनुभव है कि शिथिलाचारियोंने बहुत पहिले इस पाठको बहुत सी प्रतियोंमे अशुद्ध बना दिया होगा, सब प्रतियोंमें वे अशुद्ध नहीं बना सके, नहीं तो आज यह झगड़ा ही न उठता।

आपने लिखा है—इतने प्रमाणोंके होते हुए भी यदि पं० गजाधरलालजी अपने लिखे संस्कृत पाठको अशुद्ध बतावें और भूल और असावधानीसे लिखे हुए अपने हिन्दी अनुवादको अब भी सही कहें, तो फिर उन्हें गोम्मटसारको 'सुत्तादतं सम्मं इत्यादि गाथाका स्मरण कर लेना चाहिये। अर्थात् समझाने पर भी यदि न माने ता उन्हें मिथ्या दृष्टि समझना चाहिये इत्यादि। यहां पर मुझे यह तो मालूम हुआ कि पण्डित जीने मेरा किया पद्म० पच० का अनुवाद पढ़ा है परन्तु अनुवाद पढ़कर वे मूल पाठ को भी शुद्ध कर लेते तो अच्छा होता। क्योंकि मूल पाठ जैसा होगा वैसाही अनुवाद किया जा सकता है। परन्तु इतने परिश्रमकी और विचारकी पंडितजी को फुरसत कहां। खेद है अपनी गलती पर जरा भी ख्याल न कर पंडितजी ऊटपटांग लिखते ही जा रहे हैं। आपही कहें—"जिनगेहे" यह सप्तम्यंत पाठ मिलने से मैं वैसा अनुवाद कर सकता था क्या! इतना मैं नासमझ न था। आप वृथा अपनी कल्पनाओंकी बहार न बतावें आपने जो यह लिखा है कि गजाधरलालको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। सो महाराज यदि आप इस प्रकार जामासे बाहिर न

होते तो आपकी विद्वत्तामें वट्टा नहीं लगता। जो व्यक्ति सिद्धांत की मोटी बात पर भी विचार न कर सके वह सिद्धान्तके अनुकूल कहनेवालेको मिथ्यादृष्टि कहैं यह उसकी योग्यता और नासमझीको कारण है। भगवान केवलीको भी इन्द्रजाली कहनेवाले जीव संसारमें मौजूद थे मैं तो बीजाही क्या हूं। महाराज पंडितजी! आप मुझे अपनी बुद्धिके अनुसार मिथ्यादृष्टि मान भी लें तो मैं अपना ही बुराकर सकता हूं। जैन सिद्धान्त की निर्मलता मुझसे नष्ट नहीं की जा सकती। आपने तो जैन सिद्धान्त की निर्मलता नष्ट करनेका खोटा पक्ष खींच रक्खा है आप तो डूबोगेहीं दुनियाको भी डुबानेका प्रयत्न आपने कर डाला है। आप सरीखे वाममार्गीकी अपेक्षो मेरा मिथ्यादृष्टि होना बुरा नहीं। आप समझ लीजिये मेरे ऊपर किसीका प्रभाव नहीं न मैं किसीका साथ दे रहा हूं। मेरा पक्ष सत्य पक्ष है। शास्त्रोंके अनुसार है वह किसीके द्वारा मलिन नहीं किया जा सकता।

पृष्ठ नं० ३५ में 'यत्र श्रावक लोक एव वसति' इत्यादि पद्म० पंच० विंशतिकाका श्लोक उधृत कर आपने उससे मुनियोंका जिन मंदिरोंमें रहना सिद्ध किया हैं। सो आपकी यह बड़ी भारी गलती है। वहांपर भी यही अर्थ है कि मुनिगण आहार विहारके समय मंदिरोंमें आकर ठहरते और गृहस्थोंको उपदेश दान देते हैं। पद्मनन्दी आचार्यके मतानुसार मुनियोंका जिन मन्दिरोंमें रहना कभी सिद्ध नहीं हो सकता यह ऊपर अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। इस श्लोकके भाष्यमें आपने मुझे बहुत कोसा है

सो आप खूब कोसिये। जब जवाब ठीक नहीं बनता तब गुस्सा आती है। गाली गलौज करनी पड़ती ही है। मुझे इस बातका दुख नहीं। पाठक स्वयं विचार कर लेंगे।

पृष्ठ नं० ३७ में—

सुराग घर गिरि गुहारूक्खमूलआगंतुगारदेवकुलं
अकुदप्पाभारा रामधरादिगिण य विवित्ताइं।२६।

भाषा—सूना गृह होय, वा गिरिकी गुफा होय, तथा वृक्षका मूल होय, तथा आगन्तुक जो आवने जावने वालेनिके विश्रामका मकान होय, तथा देवकुल होय, तथा शिक्षागृह होय, तथा अकृत प्राग्भार कहिये कोई करि आपके निमित्त किया नहीं होय वा वाग वगीचेनिके महल मकान होय सो विविक्त वसतिका साधुनिके रहने योग्य होय हैं।६।" यह भगवती आराधनाकी गाथा था पं० सदासुखजीको भाषा वचनिका सहित उद्धृत की है। इसमें देवकुल शब्द आया है उस देवकुलका अर्थ जिनमन्दिर समझ पं० मक्खनलालजीने लिख दिया है कि भगवती आराधनामें भी मुनियोंका जिनमंदिरमें रहना लिखा है। भाई पण्डितजी! सिद्धांतके अनुकूल शब्दका अर्थ न समझ जा आप अपनी ओरसे अर्थ कर डालते हैं यह बहुत बुरा करते हैं ऐसा अर्थ करना आपको शोभा नहीं देता। आपने प० सदासुखदासजीका अर्थ उद्धृत किया है। यदि गाथाके प्रत्येक शब्दसे उसका मिलान कर लेते तो भी आपको देवकुलका अर्थ जिन मन्दिर नहीं सूझता पर आप ऐसा क्यों करने

लगे। पं० सदासुखदासजीने देवकुलका अर्थ शिक्षागृह किया है वही आगमोक्त है देवकुलका अर्थ जिनमन्दिर वहां आगमोक्त नहीं। 'आचार्योपाध्यायतपस्वि' इत्यादि सूत्रमें कुल शब्द आया है। भगवान अकलंकदेवने राजवार्तिकमें कुलका अर्थ इस प्रकार लिखा है—

"दीक्षकाचार्य शिष्य संस्त्यायः कुलं। दीक्षकाचार्यस्य शिष्य संस्त्यायः कुलव्यपदेश मर्हति। अर्थात् दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य संप्रदायको कुल कहते हैं। तात्पर्य यह है कि शिष्य सम्प्रदाय का नाम कुल है तथा जिस स्थानमें यह शिष्य संप्रदाय रहती है उस स्थानको भी कुल कह दिया जाता है। आज भी ऋषिकुल गुरुकुलके नामसे बहुतसे शिक्षागृह प्रसिद्ध हैं। इसलिये गाथामें जो देवकुल आया है उसका अर्थ मुनियोंका शिक्षागृह यही है। अतः पं० सदासुखदासजीने देवकुलका अर्थ जो शिक्षागृह किया है वही आगमानुकूल है। गाथाके 'देवकुल' शब्दका जिनमंदिर यह अर्थ हो ही नहीं सकता।

यद्यपि भगवती आराधनामें देवकुल शब्दकी जगह गुरुकुल शब्द दिया जा सकता था परन्तु गुरुकुल श्रावकोंका भी शिक्षागृह कहा जा सकता था देवकुलसे मुनियोंका शिक्षागृह बताना था क्योंकि देवगुरु शास्त्र तीनोंके लिये देव शब्दका व्यवहार होता है इसलिये देवकुल शब्दसे मुनियोंका शिक्षागृह ही लिया जा सकता है उसी शिक्षागृहमें मुनि ठहर सकते हैं। तथा और भी यह बात है कि भगवती आराधनामे जहांपर यह गाथा लिखी है वहांपर विविक्त वसतिकाका स्वरूप बतलाया है। विविक्त वसतिका जंगलों

में ही होती है क्योंकि वही स्थान एकांतका है। जिनमंदिर सभी वनोंमें हों यह बात नहीं गांव नगरके भीतर भी होते हैं। मुनियोंके शिक्षागृह नगरके बाहिर जंगलोंमें ही रहते हैं इसलिये भगवती आराधनाके प्रकरणके अनुसार भी देवकुलका अर्थ मुनियोंका शिक्षागृह ही हो सकता है उसका अर्थ जिन मंदिर नहीं। सिद्धान्त के अनुकूल अर्थका विचार न कर पं० मक्खनलालजीने जबरन देवकुलका अर्थ जिनमंदिर किया है। इसलिये भगवती आराधनाके अनुसार जिनमन्दिरोंमें मुनियोंका रहना सिद्ध नहीं हो सकता। आपने लिखा है कि—

पं० सदासुखदासजीके वचनसे भी यह स्पष्ट है कि मुनिगण शिक्षागृह पाठशाला विद्यालयोंमें भी रह सकते हैं इत्यादि। पण्डितजी! जरा विचार शक्तिको काममें लाइये। सदासुखजीके ये निजी वचन नहीं हैं कि मुनिगण शिक्षागृहमें ठहरते हैं। उन्होंने जो शिक्षागृह लिखा है वह देवकुल शब्दका अर्थ है। आपके कथन से यह बात निकलती है कि आपने इस बातपर विचार ही नहीं किया है कि शिक्षागृह अर्थ सदासुखदासजी कहांसे ले आये यदि आप ऐसा विचार कर लेते तो आपको देवकुलका अर्थ शिक्षागृह सूझ जाता तब आपको देवकुलका अर्थ जिनमन्दिर करनेके लिये साहस ही नहीं होता। यदि भगवती आराधनाकी भाषा टीका न होती तब तो कोई दुख न होता क्योंकि अपनी ओरसे ऊटपटांग जो अर्थ नासमझीसे लिखा जा सकता है परन्तु उसपर विस्तृत हिन्दी टीका है और देवकुलका स्पष्ट अर्थ "आगमोक्त शिक्षागृह"

लिखा है, उसे न देख आंख बन्दकर औंधी सुधी मार देना बुद्धिमानी नहीं। यहांपर आपने 'देवकुल' का अर्थ 'शिक्षागृह' न समझ जो 'जिनमन्दिर' किया है यह बड़ा भारी अनर्थ किया है। इसे सिद्धांतके ज्ञानकी अजानकारी कहना होगा। तथा आपने जो 'शिक्षागृह'का अर्थ 'पाठशाला विद्यालय' समझा है यह भी आपकी गलती है। मिहिरबान ! जिस पाठशाला वा विद्यालयके आप अध्यापक हैं वह पाठशाला विद्यालय वहां शिक्षागृहका अर्थ नहीं। वहांपर "मुनियोंके योग्य शिक्षागृह" ही अर्थ है, क्योंकि वहां देवकुल शब्दका प्रयोग किया गया है जिसका कि खास अर्थ "मुनियोंका शिक्षागृह" ही है। बात यह है कि देवकुल शब्द देखते ही आपने फ़ौरन उसका 'जिनमन्दिर' अर्थ कर दिया है। आपको वहांका प्रकरण और पं॰ सदासुखदासजीका अर्थ देखनेकी पर्वाह नहीं रही है। पण्डितजी ! इस धागाधींगी और लापरवाहीसे मुनियोंका जिन मन्दिरोंमें रहना सिद्ध नहीं हो सकता। कहा तो आप पूज्य पं॰ टोडरमलजीको मामुली पण्डित कहनेकी दम भरें और कहा पं॰ सदासुखदासजीके हिन्दी अर्थको भी न समझें, यह कितनी लज्जास्पद बात है। पृष्ठ नं॰ ३८ में आपने—

इत्यस्तेयव्रते पंच भावनाः कंदरादिषु
स्वभावशून्येष्वावासो मुक्तामोचितसद्मसु।४५।

[अर्थात्—स्वभावसे शून्य पर्वतकी गुफा आदिमें रहना तथा मुक्त और आमोचित मकानोंमें रहना इत्यादि पांच भावना अचौय

व्रतकी है ।] यह श्लोक आचारसारका उद्धृत किया है । इस श्लोक से मुनियोंका जिनमन्दिरोंमें रहना सिद्ध नहीं होता, तो भी न मालूम पंडितजीने क्या समझ यह श्लोक उद्धृत किया है । क्यों पंडित जी ! ऐसे बिना प्रकरणके श्लोकोंको उद्धृत कर जो आपने पोथा बढ़ाया है यह ठीक है क्या ? इस श्लोकके ऊपर आप लिख रहे हैं—"और भी प्रमाण" परन्तु श्लोकमें वह बातही नहीं है, इस जाल-साजीकी भी कोई हद है । इस श्लोकमें मुक्त और आमोचित शब्द आये हैं उनका अर्थ आप लिखते हैं—"मुक्त मकान वह है जो धनी द्वारा (मुनियोंके लिये) स्वयं छोड़ दिया जाय और आमोचित मकान वह है कि जो उससे (धनीसे मुनियोंके लिये) खाली करा लिया जाय ।" महाराज ! मुक्त आमोचित शब्दोंका यह अर्थ लिख कर तो आपने सिद्धान्त ज्ञानका दिवालाही खोल डाला । मिहिर-वान ! सभी बातोंमें आपकी अटकल नहीं चल सकती । जैन शास्त्रके शब्दोंके अर्थ करनेमें जैन शास्त्रोंको देखनेका कष्ट करना होगा । मुक्तका अर्थ इस प्रकार किया गया है कि जिस गांवका नगरके लोग व्यापार आदिकी हीनता वा रोग आदिको भय करता से स्वयं गांव नगरोंको छोड़ दें उस गांव वा नगरके घर "मुक्त" कहे जाते हैं तथा विमोचित वा आमोचित शब्दका अर्थ पं० आशा-धरजीने अनगारधर्मामृतमें यह किया है "विमोचितं परचक्रादिना द्वासितं पदमावसेत्" अर्थात् दूसरे राजा आदिसे जो गांव उजाड़ दिये जायं, तहस नहस कर दिये जांय उन उजाड़े गये गांवोंके घर आमोचित कहे जाते हैं" यह अर्थ मुक्त आमोचित शब्दोंका शास्त्रोक्त

है। भगवतीआराधना ग्रन्थमे वसतिकाके ४६ दोष बताये हैं। जो शून्य मकान मुनियोंके निमित्तसे खाली किये हों वा धनी द्वारा खाली करा लिये हों, यदि मुनियोंको यह बात मालूम पड़ जाय तो मुनि उसमें कभी नहीं ठहर सकते। यह एक मामूली व्यक्ति जानता है कि जो कार्य मुनियोंके निमित्त होता है, मुनियोंके काममे वह नहीं आता। फिर मोरेना सिद्धांत विद्यालयके अध्यापक पं० मक्खन लालजी यह बात न समझे। यह आश्चर्य है। जो अध्यापक शास्त्रकी इस मोटी बातको भी नही समझें, वह विद्यार्थियोंको आगमकी बारीक बातें कैसे समझाता होगा। समझमें नहीं आता। ऐसेही शिथिलाचारी व्यक्ति मुनियोंका शिथिलाचारकी ओर झुकाकर मुनिधर्मकी पवित्रता नष्ट कर सकते हैं। पृष्ठ नं० ३९ में

नामापि यः स्मरति मोक्षपथस्थसाधोः
आशु क्षयं व्रजति तद्दुरितं समस्तं।
यो भक्तभेषजमठादिकृतोपकारः
संसारमुत्तरति सोऽत्र नरोऽत्र चित्रं ।१६।

पं० मक्खनलालजीने यह पद्म० पश्च० का श्लोक उद्धृत किया है। इसमें भी जिनमन्दिरोंमें मुनियोंके रहनेका विधान नहीं। इस लिये प्रमाण रूपमें यह श्लोक नहीं समझा जा सकता, इसमें यह लिखा है—श्रावकों द्वारा मुनियोंका भोजन दवा मठ आदिसे उपकार किया जाता है। यहाँ पर इतनाही लिखना बहुत है कि भोजन दवा मठ (वसतिका) आदि द्वारा श्रावक मुनियोंकी रक्षा

करते ही हैं। ऊपर हम इस बातको स्पष्ट कर आये हैं कि हीन शक्तिके धारक मुनियोंके लिये बसतिकाकी बहुत आवश्यकता होती है। ये मठ और बसतिका जङ्गलोंमें होती हैं, मुनिगण उसमें ठहरते हैं। पण्डितजीने व्यर्थ बातें लिखकर अपने ट्रैक्टके पेज काले किये हैं। विद्वान कहे जानेवाले व्यक्तिका यह कार्य ठीक नहीं। आपको सिद्ध करना है ग्राम नगरके भीतर जिनमन्दिरोंके अन्दर मुनियोंका रहना, सो इस श्लोकसे यह बात नहीं सिद्ध होती, इसे आपभी विचार सकते हैं। इस श्लोकके भाष्यको लेकर आप ने मुझपर यह गहरा वार किया है कि—

"कहिये पं० गजाधर लालजी! शायद आपको जैन शास्त्रों पर तो विश्वास न होगा, पर अपने लिखे (इस श्लोकके अनुवाद) पर तो विश्वास होना चाहिये।" इत्यादि। यहां पर मेरा यह निवेदन है कि महाराज! मुझे जैन शास्त्रों पर पूरा विश्वास है पर आपके शास्त्र और मत पर जराभी विश्वास नहीं। आप मुझे मिथ्यादृष्टिही समझें। पद्म० पञ्च० के इस श्लोकसे आपका पक्ष पुष्ट होता, उस समय आप मुझ पर रोब जमाते तो शोभा भी देता, सो तो आपके पक्षकी पुष्टिकी यहां गन्ध भी नहीं, फिर आप का मेरे लिये यहा कुछभी लिखना निष्फल है। आप क्या लिख रहे हैं, जरा विचारें तो सही। पृष्ठ नं० ४० मे आपने—

पठद्भिरनिशं साधुवृन्दैराह मनस्विनं
प्रजल्पन्निव यो भव्यैर्व्यभाव्यत समागतैः ॥१८३॥

कृतेर्याशुद्धिरिद्धद्धिः प्रविश्य जिनमंदिरं।
तत्रापश्यत् ऋषीन् दीप्ततपस कृतवेदनः।२७५।

ये दो श्लोक आदि पुराणजीके उद्धृत किये हैं। इन श्लोको में महापूत चैत्यालयमें मुनियोंका ठहरना लिखा है। इसीके आधार से पं० मक्खनलालजीने यह लिख मारा है कि आदि पुराणमें मुनियोंका जिनमन्दिरोंमें रहना लिखा हैं। यह परिडत जीकी भूल हैं। आदि पुराणमें जहां पर मुनियोंका रहना वा ध्यानका स्थान बतलाया है वहा पर गाव नगरके भीतर उनका रहना बडे जोरसे निषेधा है और जिन मन्दिरोंमें रहनेका वहां बिलकुल विधान नहीं किया—शून्य गृह, पर्वतके शिखर, गुफा, श्मशान आदि स्थानो परही उनका रहना बताया है यह हम ऊपर बहुत विस्तारसे लिख चुके हैं। प्रमाण रूपमें आदि पुराणके कई श्लोक भी लिख आये हैं। मुनिगण आहार विहारके समय वा किसी जंगलके शून्य प्रदेशमें जिन मन्दिरके रहने पर उसमें दर्शनार्थ जा सकते हैं स्तुनि पाठ कर सकते हैं। ठहर भी सकते हैं। यही बात इन श्लोकोंसे आदि पुराणमें लिखी है। मुनि ग्राम नगरके भीतर जिनमन्दिरों में रहते हैं यह बात कहीं नहीं लिखी। महापूत चैत्यालय जंगल म था, वहा मुनिगणका आना जाना होता था। बज्रजंघ जब मन्दिरमें गये होंगे उस समय मुनि वहां थे, इससे जिन मन्दिरोंसे सतन मुनियोंका रहना सिद्ध नहीं हो सकता। एक जगह आदि पुराणमे गाव नगरोंमें मुनियोंके रहनेका निषेध किया जाय और

जहां मुनियोंके ध्यानके स्थान बतलाये हैं, वहां जिन मन्दिरोंका उल्लेख न कर दूसरी जगह जिनमन्दिरोंमें उनका रहना लिखा जाय यह आदिपुराणमें पूर्वापरविरोधी बात नहीं हो सकती। पंडितजी महाराज! अपनी अजानकारीसे आप भगवज्जिन-सेनाचार्यको कलंकित न करें। पृष्ठ नं० ४१में—

कल्याणकलिते तीर्थे चैत्यगेहे जिनालये
भूमिगर्भे मठग्रामे विवेकिश्रावकाश्रिते २६८
विजंतुकलतागेहे पुलिने चैत्यपादपे
निवासः प्राक्तनैः प्रोक्तः मुनीनां चित्तशांतये २६९

परमार्थोपदेशके इन श्लोकोंमें चैत्यालय और जिनमन्दिरोंमें मुनियोंके रहनेका उल्लेख आया है, इसीलिये पं० मक्खनलालजीने ये श्लोक उद्धृत किये हैं। यहां पर इतना ही लिखना काफी है भट्टारक ज्ञानभूषण जिन्होंने परमार्थोपदेशकी रचना की है, विक्रमकी १६वीं शताब्दीमें हो गये हैं। उस समय भट्टारक मुनियोंका रहना जिनमंदिरोंमें जारी था। इसलिये समयकी खूबीसे उन्होंने वैसा ही लिख दिया है। वह बात सिद्धान्त नहीं। दूसरे चित्त शांतये यह पद उन्होंने दिया है। गाव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमे चित्तकी शांति नहीं हो सकती, जगलोंके चैत्यालय और जिन मंदिरोंमें ही हो सकती है, यह ऊपर अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। इसलिये भट्टारक ज्ञानभूषणने यदि चैत्यालय और जिन मन्दिरोंको मुनि-

योंके रहनेका स्थान भी कहा है तो उसका अर्थ "नगरसे बाहिर जंगलोंके या तीर्थ स्थानोंके चैत्यालय जिन मन्दिरों" का ग्रहण है। इससे गाव नगरके भीतर जिनमंदिरोंमें मुनियोंका रहना सिद्ध नहीं हो सकता।

पृष्ठ न ४२ और ४३ में --

'दीर्घ कालाभ्यस्त गुरुकुले' त्यादि राजवार्तिककी और "सय-मायतनारो भक्तिहेतोः' इत्यादि चारित्रसारकी पंक्तियां उद्धृत की हैं, उनमें लिखा है मुनियोंको नगरमें ५ दिन और गांवमें एक दिन ठहरना चाहिये। इससे पंडितजीने बतलाया है कि जब गाव नगरमें रहनेकी स्पष्ट आज्ञा है तब वे उनके भीतर जिन मन्दिरोंमें रह सकते हैं इसीलिये राजवार्तिक और चारित्रसारके अनुसार मुनियोंका जिनमन्दिरोंमें रहना बाधित नहो" इत्यादि। परन्तु यह पण्डितजीका मत है जब कि राजवार्तिक और चारित्रसारके कर्ताओंको मुनियोंका गाव नगरके भीतर रहना इष्ट था तब उस बातका खुलासा कर देना था सो नहीं किया, इससे जिनमन्दिरोंका रहना कभी सिद्ध नही हो सकता। गांव नगरका जो उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि जो मुनिगण गांव नगरके बाहिर उद्यान बाग-बगीचोंमे ठहरते हैं वे ही गांव नगरके ठहरनेवाले कहे जाते है। यह बात युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे ऊपर हम खूब सिद्ध कर आये हैं। आदिपुराणके मतानुसार गांव नगरमें ठहरना मुनियोंका हो ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें जगह २ इस बातका उल्लेख है। भाई पण्डितजी! इतनी भी सिद्धान्तकी बात न समझोगे तो कैसे जैन

सिद्धान्तकी रक्षा कर सकोगे। हठ पकड़ो, पर सिद्धान्तके विपरीत हठ पकड़ना महापाप है। पृष्ठ नं ४४ में—

'उवसग्ग परीसहसहा' इस 'षड़पाहुड़' की टीकाके "ग्रामनगरा दौ वा" ये शब्द उद्धृत किये हैं, पृष्ठ नं ४५ में नगरे पंच रात्रे स्थातव्य ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यं षट् पाहुडकी ४२ वीं गाथा टीकाके शब्द उद्धृत किये हैं। पृष्ठ नं० ४६ में ग्रामोद्यानाटवीत्यादि राजवार्तिकके शब्द उद्धृत किये हैं, इनमें गांव नगरमे मुनियोंका ठहरना लिखा है। इसका यही समाधान है कि गांव नगरके भीतर मुनियोंका रहना नहीं हो सकता। गांव नगरके बाग बगीचोंमें रहनेसे गांव नगरका रहना कहा जाता है। पंडितजी इस विषयके उदाहरण तो दे रहे है परन्तु पुराणोमे क्या ऐसी एक भी कथा बता सकेंगे कि अमुक मुनि गांव नगरके भीतर ठहरा? 'गांव नगरके बाग बगीचोंमें ठहरते हैं" इस कथनसे तो तमाम पुराण भरे पड़े हैं। शास्त्रके मर्मपर दृष्टि न डाल कर झूठा हठ करना व्यर्थ है। पृष्ट नं ४७ में—

'एकान्ते आराम भवनादि प्रदेशे' यह राजवार्तिक और "एकांते भवनारामादि प्रदेशे" यह चारित्रसार इस प्रकार दो ग्रन्थोंके आधारसे एकांत स्थानका आपने तात्पर्य समझाया है। यहां एकांत शब्दसे नगरके बाहिर बाग बागीचोंका ही ग्रहण किया है। एकान्त शब्दसे जिनमदिरका ग्रहण नही किया। यदि जिनमन्दिरमें मुनियोंके ध्यानके योग्य एकान्त स्थान होता तो अवश्य उल्लेख रहता। महाराज पंडितजी! अब आप ही सोच लीजिये, जब राज-

वार्तिक आदि मान्य ग्रन्थोंमें किसी रूपसे मुनियोंका गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहना नहीं बनता, तब आपका जो लिखना है वह सर्वथा निरर्थक है। पृष्ठ नं० ४७ में—

सुकुमाल चरित्रके आधारसे सुकुमालकी कथा उद्धृत की है। मुनिराज यशोभद्र उनके उसीभवके मामा थे। कुमार सुकुमालकी आयु थोडी जान और उन्हें निकट भव्यमान धार्मिक मोहके कारण वे उनके महलके बागीचेमें उनको संबोधनेके लिये आ विराजे थे। सुकुमालकी मांका पुत्रपर विशेष मोह था। माताको मुनिराजके मुखसे यह समाचार मिल चुका था कि मुनि दर्शनसे ही सुकुमाल मुनि दीक्षा धारण कर लेंगे और जरासे कारणसे उन्हें वैराग्य हो जायगा, इसलिये उसने ऐसी जगह सुकुमालके लिये भवन बनवाया था जहां नगरकी कोई बात न पहुंच सकती थी, मरना जीना रोना आदिका हाल भी सुकुमाल नहीं जान सकते थे। पाठक विचार सकते हैं जिस जगह नगरकी बात न सुन पड़े, वह जगह कैसे शांत एकान्त स्थानमें थी। और वहां पर मुनियोंके ठहरनेमें क्या आपत्ति हो सकती थी। एक तो ऐसा नियोग ही था, इसलिये यशोभद्र मुनिके वैसे परिणाम हुए, दूसरे वह स्थान भी शांत और एकान्त था इसलिये इस खससियत पर लक्ष्य न रखकर प० मक्खनलालजीने जो इस कथाके आधारसे मुनियोंका गाव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें रहना सिद्ध किया है, वह व्यर्थ है। किसी कारणसे कोई खास बात हो जाय तो वह सिद्धांत नहीं हो सकता। पृष्ठ नम्बर ५० में पण्डितजीने--

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्वर्तिनां ८३

अर्थात् "इस कालमें मुनियोंके शुक्लध्याननहीं होता। श्रेणिसे पहिले धर्मध्यान होना हे।" यह श्लोक उद्धृत किया है। पण्डितजी महाराज! आप पहिले ही धर्म्मध्यानकी प्राप्ति आजकलके मुनियों में बना आये हैं फिर न मालूम यह श्लोक वृथा उद्धृत कर क्यों आपने कलमको कष्ट दिया है। यह श्लोक मुनि, जिनमन्दिरोंमें रहते हैं इस बातकी पुष्टिमें प्रमाण रूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि इसमे वह बात नहीं। हम नहीं समझते बे प्रकरण बात लिखनेमें क्या महत्त्व आपने समझ रक्खा है! मर्जी आपकी। पृष्ठ न० ५१ में—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनलिंगधरा नराः। ४०३।
यथा पूज्यं जिनेंद्राणां रूपं लेपादिनिर्मितं
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ४०५

ये दो श्लोक यशस्तिलकचम्पूके उद्धृत किये हैं। सोमदेव सूरिने दिगम्बर दीक्षाकी कठिनताका अनुभव कर कलिकालमें जिन लिङ्गधारी मुनियोंकी आश्चर्यके साथ प्रशंसा की है। इन श्लोकोंसे भी मुनियोंका जिनमन्दिरोंमें रहना सिद्ध नहीं होता। इन श्लोकोंसे कलिकालमें मुनियोंकी सत्ता बतलाई है, सो मुनियोंकी सत्ता पंचम

कालके अन्त तक रहेगो, स्वाध्याय प्रेमी प्राय: जानते हैं। इसलिये इन श्लोकोंका उद्धृत करना भी पण्डितजीका निरर्थक है। पृष्ठ नं० ५२ में—

'येऽत्राहुर्नहि कालोऽयं' इत्यादि श्लोक लिखकर पण्डितजीने पञ्चमकालमें ध्यानकी सिद्धि की है। यह भी पण्डितजीका प्रयास व्यर्थ है क्योंकि जब इस कालके अन्ततक मुनि रहेंगे तब ध्यान तो होना सिद्ध है हो, क्योंकि मुनियोंके लिये ध्यान ही सब कुछ चीज है। इस श्लोकके बाद पण्डितजीने प्रकृत विषयके उपसंहारमें एक छोटा सा लेख लिखा है, उसमें भाई रतनलालजी झाझरी और उनके मित्रोंको कोसा है। यह भी लिखा है कि इन लोगोंने चर्चा सागरका अमान्य ठहराकर भारी पाप किया है, इसलिये उन्हें प्रायश्चित्तके साथ अपने शब्द वापिस लेने चाहिये इत्यादि। यहां पर मेरा निवेदन यह है कि झाझरीजी और उनके साथियोंने धर्म बुद्धिसे धर्मकी निर्मलताकी रक्षा की है। उन्होंने कई पाप नहीं किया। पाप तो महाराज! आपने किया है क्योंकि अपने निंदित पक्षकी पुष्टिके लिये आपने शास्त्राज्ञाको लोपा है, अर्थका अनर्थ किया है, लोगोंको धर्मसे चलायमान करनेकी चेष्टा की है, मुनियों की पवित्रताका लोप कर उन्हें शिथिलाचारी बतानेका साहस किया है। यह बहुत बड़ा पाप है। इसका कितना बड़ा प्रायश्चित्त होना चाहिये यह भगवान केवली ही जान सकते हैं।

आपने लिखा है "चर्चासागरमें पद्मनन्दी और शिवकोटि आचार्योंके बचनानुसार मुनियोंको जिनमन्दिरोंमें रहना सिद्ध

किया हैं कोई मनसे नहीं लिखा है" इत्यादि, यहाँपर मुझे यह लिखना है कि पद्मनन्दी आचार्यके श्लोकको अशुद्ध गढ़कर उनका वचन तो लिखा हैं, शिवकोटिका कौनसा प्रमाण दिया है सो नहीं दीख पड़ा ; इंद्रनंदी भट्टारकका एक प्रमाण जरूर हैं। शायद यह गलती होगी । अस्तु

खास शब्द—गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें मुनियोंको रहना सिद्ध करनेके लिये आपने ५२ पेज रंग डाले हैं। आपने जितने प्रमाण दिये हैं उनमें भट्टारक शिवकोटिके रत्नमाला ग्रन्थ और भट्टारक ज्ञानभूषणके परमार्थोपदेश ग्रन्थ इन दो ग्रंथोंके प्रमाणोंके सिवाय किसी भी प्रमाणसे मुनियोंका जिनमन्दिरोंमें रहना सिद्ध नहीं होता। भट्टारक ज्ञान भूषणने जो चैत्यालय और जिनमन्दिरोंमें मुनियोंका रहना बतलाया है वहां पर भी नगरके बाहिर वनोंके चैत्यालय और जिनमन्दिरोंका ग्रहण है क्योंकि वहा पर जिन स्थानोंका वर्णन किया हैं वे वनोंके एकान्त स्थानही ग्रहण किये हैं। वहां पर गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरों का ग्रहण नहीं हो सकता। दूसरे चित्तशांतये यह पद देकर तो गाव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें रहना मुनियोका लियाही नहीं जा सकता। जब आपको जिनमन्दिरोंमें मुनियोंका रहना सिद्ध करनेवाला कोई और प्रमाण न मिला, तब आपने राजवार्तिक चारित्र सार आदि ग्रन्थोंमें गाव नगरका उल्लेख देख उनसे गांव नगरके भीतर जिन मन्दिरोंमें मुनियो का रहना सिद्ध करना चाहा ‌है उससे आपने अपने सिद्धान्त ज्ञानके कोरापनकी जांच करा

ही, क्योंकि वहां गांव नगरका अर्थ गांव नगरके वाहिर बाग बगीचे आदि हैं, वहीं मुनिगण ठहरते हैं। पुराणोंमें सब जगह यही लिखा है। इस लिये अपने मतकी पुष्टिके लिये आपका एक ही प्रमाण रत्नमालाका कहा जा सकता है; परन्तु वह भी ठीक नहीं; क्योंकि रत्नमालाके कर्ता भट्टारक शिवकोटि वि० सं० १५०० में हुए हैं। उस समय शिथिलाचारका जमाना था। मन्दिरोंमें रहनेका शिथिलाचार जारी था; जमानेकी खूबीसे वैसा लिख देनेसे वह सिद्धान्त वचन नहीं हो सकता। इस प्रकार गांव नगरके भीतर जिनमन्दिरोंमें मुनियोंका रहना सिद्ध करने वाला एकभी पुष्ट प्रमाण न रहते जो आपने शांत जैन समाजको क्षुब्ध कर दिया है, यह आपकी बड़ी भारी भूल है। आपने बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला है। अबभी हमारी यह प्रार्थना है कि एक बार फिर आप इस विषय पर विचार करें।
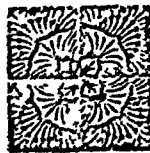
गोबर पर विचार

भगवान जिनेन्द्रकी जो पूजा वा आरती की जाती है उन दोनों का उद्देश्य आठों कर्मोंके नाश करनेकी अभिलाषा है। पूजा और आरतीके समय पवित्र और सुगन्धित द्रव्य ही काममें आती हैं। लोग उस द्रव्यको भले ही ग्राह्य वा पवित्र समझें यदि वह हिंसाकी कारण है और जिसकी उत्पत्ति विष्टा मार्गसे हुई है, वह तीन लोक के नाथकी पूजा आरती सरीखे पवित्र कामोंमें नहीं आ सकती। लोकमें गायको देवता माना जाता है, इसी लिये उसके गोबर गोमूत्रको भी पवित्रताकी दृष्टिसे देखा जाता है, परन्तु विचार करनेपर कभी पवित्र नहीं हो सकता। चर्चा सागरमें भगवान जिनेन्द्रकी आरतीका स्वरूप बतलाया है ; वहाँ पर गोबरसे भी आरती करना लिखा है; वह श्लोक इस प्रकार है —

दुर्भास्त्रस्तिकदर्भपद्मकनदीमृद्रोचनागोमयः
श्रीखंडोत्तमहेमरौप्यकुसुमश्रीदीपभृंगारकान्
सिद्धार्थं तिलशालिकुंकुमयवप्रत्ययधूपादिकान्
सर्वान् मंगलसंचकानक्रमयुगस्योत्तारयाम्यर्हतः

पृष्ठ १७८

अर्थात् दूध, स्वस्तिक, दाभ, कमलगट्टा, नदीकी मट्टी, गोवर आदि शब्दोंसे मैं आरती करता हूं। यहांपर गोवरसे आरतीका विधान किया है। भाई रतनलालजी झाझरीकी ओरसे यहां पर यह कहा गया है कि गोवरसे आरती करना धर्म विरुद्ध है। मान्य शास्त्रोंमें कहीं भी यह विधान नहीं आया, चर्चा सागरके कर्ताने इस भ्रष्ट मार्गको पोषा है। इस पर प० मक्खनलालजीने गोवरके शुद्ध बनानेमे आकाश पाताल एक कर दिया है। नेमिचन्द प्रतिष्ठापाठ आदि अप्रमाणिक ग्रन्थोंके प्रमाण देकर उसे शुद्ध बता नेकी वृथा चेष्टा की। भींत आगनके लिपनेमें गोवरका लोकमें अधिक प्रचार देख राजवार्तिक चरित्रसार आदि ग्रंथोंमें उसे लौकिक शुद्धियोंमें ले लिया है। जो पदार्थ हो तो वस्तुतः अशुद्ध परन्तु लोग उसे किसी कारणसे व्यवहारमे लाते हो इसलिये उसे लाचारीसे शुद्ध मान लेना यह लौकिक शुद्धिका अर्थ है। जहां पर गोवरको लौकिक शुद्धियोंमें माना है वहां पर उसका यही भाव है कि गोवर है तो अशुद्ध परन्तु अधिकांश लोग उसे लीपने आदिके व्यवहारमें लाते हैं इसलिये वह शुद्ध है। परन्तु ऐसा लौकिक शुद्ध पदार्थ लोक व्यवहारमें भले ही काममें आवे। पूजा आरती आदि पवित्र कामोंमें यह काम नहीं आ सकता। यदि पूजा आदि पवित्र कामोंमें भी वह शुद्ध माना जाता तो उसे जहां लौकिक शुद्धियोंमें बताया है वहां पर यह भी कह देना था कि इससे पूजा आरती भी हो सकती है। ऐसा लिखनेमें भगवान अकलंक देव सरीखे आचार्योंको कोई भय भी न था परन्तु यह बात उन्होने नहीं लिखी इस लिये पूजा

आरतीके समय गोबर सरीखी निकृष्ट चीजका उपयोग करना जैन धर्मकी पवित्रता नष्ट करना है। और जैन धर्म पर हिन्दू धर्मकी छाप लगाना है।

लोकमें मृगछाला (मृगचर्म) हाथी दांत, ऊन, शंख आदि बहुत सी अपवित्र चीजें भी शुद्ध मानी जाती हैं परन्तु जैनियोंके धार्मिक कार्योंमें उनका उपयोग नहीं होता। क्या कही भी जिन मन्दिरो में मृगछाला वा शेरकी खाल कहीं बिछी दीख पड़ती है ! क्या ऊंनी वस्त्रोंसे कहीं भगवान जिनेन्द्रकी पूजाका विधान है। हाथी दांत बहुत पवित्र माना जाता हैं। जिस तरह हाथी दांतकी गणेश जी, ब्रह्मा जी, श्रीकृष्ण आदिकी मूर्तियां दीख पड़ती हैं क्या कोई हाथी दांतकी भगवान जिनेन्द्रकी प्रतिमाभी दीख पड़ती है। यदि कहीं मिल भी जाय तो क्या वह वेदोमें विराजमान कर पूजी जा सकती है ? कभी नहीं। इस लिये जिस प्रकार मृगछाला हाथी दांत आदि चीजें लोकमें शुद्ध मानी जाने पर भी उनका धार्मिक कार्योंमें उपयोग नहीं होता उसी प्रकार गोबर भी भले ही लोकमे शुद्ध माना जाय, पूजा आरती आदि धार्मिक कार्योंमें उसका कभी उपयोग नहीं हो सकता। जमीन वगैरह जो गोबर से लीपी जाती है उसका एक मात्र कारण बदबू दूर करना है। तथा मिट्टीको उखड़नेसे कुछ रोकना और जमाना है इस लिये लीपने आदिमें उसका उपयोग हो सकता है। वह पवित्र नहीं माना जा सकता।

शास्त्रोंमें यह बात लिखी है कि गोबरमें बहुत जल्दी जीव

पडते हैं। यदि आरती आदिके कार्यमें गोबर लिया जायगा तो यह निश्चय है कि उससे अनेक जीवोंकी हिंसा होगी। जहां पर हिंसा है वहां पर धर्म नहीं हो सकता। यह जैन धर्मका खास सिद्धान्त है। इस रूपसे गोबर कभी भगवान जिनेन्द्रकी आरती के समय ग्रहण नहीं किया जा सकता।

दशवीं शताब्दीके पहिलेके किसी भी ग्रन्थमें आरतीके लिये गोबरका विधान नहीं पाया जाता। आदि पुराणमें भगवज्जिन सेनाचार्यने नीराजना (आरती) का उल्लेख किया है परन्तु वहा पर नीराजना द्रव्योंमें गोबरका उल्लेख नहीं किया। लघु अभि षेक पाठमें नीराजना द्रव्य लिखी है परन्तु वहां भी गोबरका उल्लेख नहीं है। जबसे जैन धर्ममें शिथिलाचार जारी हुआ है तबसे और भ्रष्ट बातोंकी तरह भगवान जिनेन्द्रकी आरतीमें गोबर ग्रहण करनेमें भी पाप नहीं समझा गया है। प्रतिष्ठापाठोंमें तो गोबर गोमूत्रको सर्वोत्कृष्ट द्रव्य मान लिया है। यह शिथिलाचार बरा- बर १६ वीं शताब्दी तक कायम रहा। फिर आगे ऐसे प्रभावी जैनाचार्य भी नहीं हुए जो संस्कृत प्राकृतमें ग्रन्थोंका निर्माण कर इन शिथिलाचारी प्रथाओंका मूलोच्छेद करते, भाषाके अनेक जैन धर्मके मर्मज्ञ विद्वान हो गये हैं उन्होंने इसका पूरा निषेध किया हैं।

उन्होंने गोबरको जीवोंका पिण्ड बतलाया है। मल कहकर उसे पुकारा हैं। महा अपवित्र माना है। अब, हम अपनी ओर से विशेष न लिखकर शास्त्रोंमें गोबरके विषयमें क्या

लिखा है यह बात पाठकोंके सामने रखते हैं। पाठक गोबर शुद्ध है वा अशुद्ध है ? तीन लोकके नाथ भगवान जिनेन्द्रकी आरतीमें उसका ग्रहण करना ठीक है या नहीं। इस बात पर स्वयं विचार कर सकेंगे।

भाषाके विद्वानोंने जैन धर्मकी आचार विचार सम्बन्धी गूढ़ बातोंको भाषामें ढालकर जैन धर्मकी बहुत बड़ी रक्षा की है। जो कुछ भी आचार विचार आज लोगोंमें दीख पड़ता है वह क्रिया कोषोंकी कृपासे ही दीख पडता है। पं० दोलतरामजी कृत क्रिया कोषका जैन समाजमें बहुत बडा आदर है। गोवरको महा अपवित्र पदार्थ बतलाते हुए वे लिखते हैं—

नहि छीवै गोवर गोमूत मल मूत्रादिक महा अपूत
छाणा ईंधन काज अजोगि लकड़ी हू वींधी नहिजोगि

पृ० १४ छपा

यहां पं० दोलतरामजीने स्पष्ट ही कर दिया है कि गोवर और गो मूत्र ये मल और मूत्र हैं महा अपवित्र है, इनका स्पर्श भी नहीं करना चाहिये तथा जो लोग गोवरके छांड़े (कन्डे) काममें लाते हैं यह भी महा अपवित्र है। छांड़ोंसे कभी रसोई वगैरह न करनी चाहिये। भाई रतनलालजी झांझरीजीने गोवरको विष्ठा कह दिया था। उस पर पं० मक्खनलालजीने मनमाना उन्हें कोस डाला है। भाई रतनलालजीका गोवरको विष्ठा बतलाना मनगढ़ंत न था, शास्त्रके आधारसे था; क्योंकि क्रियाकोप शास्त्रमें गोवरको

मल (विष्टा) कहा गया है। देखना हैं पं० दौलतरामजीके लिये भा० मक्खनलालजीका कोसना किस रूपसे होता है। तथा आगे जाकर पं० मक्खनलालजीने दाल वाटी आदिका गोवरके कंडों पर होनेसे गोवरको पवित्र बतलाया है, परन्तु पंडितजीका वैसा ही लिखना शास्त्र विरुद्ध है क्योंकि क्रियाकोषमें पं० दौलतरामजीने छाडोंपर दालवाटी करना अनुचित बतलाया है। आज भी जिन लोगोंके खाने पीनेका आचार विचार है, वे लोग गोबरके छाणोंकी रसोई नहीं जीमते। उसका चौकामें आना पाप समझते हैं। आचार विचार शून्य बहुतसे भी व्यक्ति यदि गोबरके छाणोंकी रसोई खाते हैं तो वे धर्म विरुद्ध ही कार्य करते हैं। उनका वैसा करनेसे धर्म दृष्टिसे गोवर पवित्र नहीं हो सकता। जब क्रियाकोषमें गोवरको महा अपवित्र माना है उसके सूखे कण्डों पर रसोई करना भी मना किया है तब तीन लोकके नाथ भगवान जिनेन्द्रकी आरती गोबरसे बतलाना, कभी ठीक नहीं हो सकता पीछेके ग्रन्थोंमें जो गोवरसे आरतीका गोमूत्रसे भगवान जिनेन्द्रके अभिषेकका विधान मिलता है वह बनावटी है। हिन्दू धर्मकी बात जबरन जैनग्रन्थोंमें घुसेड़ी गयी हैं।

और भी प्रमाण

पं० किसनलालजी कृत क्रियाकोषमें भी गोवरको महा अपवित्र माना है। जल्दी जीव पड़नेसे उसे घोर हिंसाका कारण माना है। जहां शुद्ध घृतकी विधि बतलाई है वहां पर पशुओंको स प्रकार रखना चाहिये तथा गोवरका क्या होना चाहिये।

इस विषयमें इस प्रकार लिखा है—

गोबर तिनको है नित सोइ,
अपने गेह न थापै कोइ।
औरन को माग्यो नहि देइ,
त्रस सिताव जामैं उपजेइ ।४३।
बालू रेत नाखि जा मांहि,
करडो करि सो देइ सुखाइ।
चरिवे को रामे न खिडांइ,
जल पीना निवार नहिं जाई

पृष्ठ ४८ लिखा

अर्थात् पशुओंका जो गोबर हो उसे छाणोंके लिये अपने घर न राखे। यदि गोबर कोई मांगे तो उसे भी न दे क्योंकि बहुत ही जल्दी उसमें त्रस (जीव) पडते हैं इसलिए गोबर हो उसी समय उसमें बालू रेत आदि खारी चीजें मिलाकर सुखाने डाल दे। क्रिया कोषके कर्ताने यहां पर यह स्पष्ट कर दिया है कि गोबरमें बहुत जल्दी जीव पडते हैं, इसलिये किसी भी काममें उसका लेनो अनेक जीवोंकी हिंसा कर महान पाप बंध करना है। तथा उसकी सुखानेकी जो विधि बतलाई है उससे यह स्पष्ट कर दिया है कि सूखा गोबर रसोई आदिके काममें नहीं लिया जा सकता। अब कहिये पं० मक्खनलालजी। गोबर कंडों पर दालबाटी चूरमाका

करना क्या आप शास्त्रकी आज्ञाके अनुकूल मानेंगे ? आचार विचार वाला मनुष्य कभी गोवरके छाड़ोंकी रसोई नहीं खा सकता। जो ऐसा करते हैं लोकको देखा देखी करते हैं, उन्हें शास्त्रकी आज्ञाका पता नहीं।

क्रियाकोषमें यहां तक लिखा है कि दूध निकालते समय गायको स्नान कराया जाता है। यदि उस समय गाय गोवर या पेशाब कर दे तो फौरन दूध दुहना बन्द कर देना चाहिये। और उसे फिरसे स्नान कराकर दूध निकालना चाहिये। यहां पर यह बात विचारनेकी है कि जब गोवर और गोमूत्रको पवित्र मान लिया गया है और उससे भगवान जिनेंद्रकी आरती और अभिषेक तकका विधान है तब गोवरको इतना अपवित्र क्यों माना गया कि उसके होते ही फिर गायको स्नान कराना चाहिये। असल बात यह है कि लोक लाजसे गोवरको ग्रहण करने योग माना भी हो तो भी है तो वह गायका विष्टा ही। धर्म दृष्टिसे वह कभी पवित्र नहीं हो सकता।

और भी प्रमाण

जिस त्रिवर्णाचारका धर्मरसिक नाम दिया है और जिसके श्लोकोंको बड़े गौरवके साथ चर्चासागरमें प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है देखिये उस त्रिवर्णाचारमें भी गोवरके विषयमें क्या लिखा है—

त्रिणमूत्रोच्छिष्टपात्रं च पूयचर्मास्थिरक्तकं

गोमयं पंकदुर्गंधस्तमोरोगांगपीड़ितः ।१५०
असम्मार्जितमुद्धूलिस्मृताङ्गिधूमसंवृतं
मलिनं वस्त्रपात्रादियुक्ता स्त्रीः पूर्णगर्भिणी
सूतकीगृहसंधिस्थो म्लेच्छशब्दोऽतिनिष्ठूरः
तिष्ठंति यत्र शालायां भुक्तिस्तत्र निषिध्यते १५२

अथ जहाँपर विष्ठा मूत्र पड़ा हो, जूठे वर्तन रखे हों, पीव चमड़ा हड्डी और खून पड़ा हो, गोवर पड़ा हो, कीचड़ हो, दुर्गन्ध आती हो, अन्धकार हो, रोगसे पीड़ित मनुष्य हो, जो जगह झाड़ पोंछ कर साफ न की गई हो, धूल पड़ी हो, प्राणियोंके अवयव पड़े हों, धूओंसे आच्छादित हो, मैले वर्तन कपड़े पड़े हों, पूर्ण गर्भवती स्त्री बैठी हो, प्रसूतिगृहकी दीवालसे सटा हो, म्लेच्छोंके शब्दोंसे भयंकर हो, वहाँ बैठकर भोजन न करना चाहिये। १५०—१५२

विचारनेकी बात है कि एक जगह तो गोवरको इतना पवित्र मान लिया कि उससे भगवान जिनेंद्रकी आरती भी की जा सकती है और दूसरी जगह वही गोवर इतना अपवित्र मान लिया कि उसे पीव चमड़ा हड्डोंकी गणनामें गिन लिया! एक ही चीजके बारेमें परस्पर विरुद्ध ये दो विधान कैसे हुए। समझमें नहीं आता। जो महानुभाव त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठापाठोंके लेखानुसार गोवरको शुद्ध मानते हैं उन्हें इस पूर्वापर विरोधी लेखपर खयाल करना चाहिये। बनावटी बातके वर्णन करनेमें कितनी भी चतुरता रक्खी जाय कहीं न कहीं पोल रह ही जाती है। यदि गोवरको वस्तुतः

पवित्र माना जाता तो दशमी शताब्दीके पहिलेके ग्रन्थोंमें अवश्य उस बातका उल्लेख रहता परन्तु कहीं देखनेमें नहीं आता। इस लिये मानना होगा कि धर्मद्वेषियोंने जैनधर्ममें इन भ्रष्ट बातोंका प्रचार कर उसे मलिन बनानेका साहस किया है। ऐसे भ्रष्ट वचन कभी केवली भगवानके नहीं हो सकते।

और भी प्रमाण

भाषाके विद्वानोंमें पं० सदासुखदासजीका आसन बहुत ही ऊंचा है। यद्यपि लौकिक शुद्धिमें उन्होंने गोबर बतलाया है परन्तु उसे महाहिंसाका कारण कहा है। वे लिखते हैं—

"गौके बांधनेमें तथा जाके मल (गोबर) में मूत्र (गोमूत्र में असंख्यात जीव उपजे हैं।" इत्यादि। विचारनेकी बात है जिस गोबरको पं० सदासुखदासजी मल (विष्टा) बतला रहे हैं, उससे कैसे भगवान जिनेंद्रकी आरती हो सकती है? पं० सदासुखदास जीके मतानुसार यदि गोबर मल है तो कहना होगा भगवानकी आरती मलसे भी हो सकती है। यदि सदासुखदासजी गोबरको पवित्र मानते तो उसे कभी मल नहीं कह सकते थे। उन्होंने जो गोबरको लोक लाजसे शुद्ध माना उसका यही मतलब है कि वह है तो महा अपवित्र मल ही, परन्तु लोक उसे अज्ञानतासे वैसा नहीं समझते। खेद है विद्वान कहे जानेवाले पण्डितजन भी शास्त्रों के शब्दोंको समझनेकी चेष्टा नहीं करते, झूठी हठसे जैनधर्मकी पवित्रता नष्ट करना चाहते हैं।

कुछ पक्षपाती पण्डितोंका कहना है कि जिस प्रकार प्रतिष्ठा

पाठ आदिमे गोवरका विधान मिलता है, उसी प्रकार संस्कृत और प्राकृतके ग्रंथोंमें उसका निषेध क्यों नहीं मिलता। इसका उत्तर यह है कि पदार्थके स्वरूप पर विचार करना चाहिये। गोवरको स्वरूप जब अशुद्ध है, उत्पत्ति भी उसकी अशुद्ध मार्गसे है, तब वह शुद्ध किसी हालतमें नहीं हो सकता। दूसरे दशवीं शताब्दीके पहिलेके किसी ग्रंथमे गोवरका विधान नहीं, जबसे जैनधर्ममे शिथिलाचार चला है, आचार्योंके नामसे हिन्दू ब्राह्मणों द्वारा प्रतिष्ठा पाठ आदिका निर्माण हुआ है, उनमें गोवरका विधान मिलता है। १५-वीं १६-वीं शताब्दीके बाद आचार्य हुए नहीं, भाषाके विद्वान हुए हैं, उन्होंने अनेक ग्रंथोंका निर्माण किया है। उनके वचनोंका आदर भी आचार्य वचनोंका सा ही माना जाता है। भाषा ग्रंथों में जहां भी प्रकरण आया है गोवरको अनेक जीवोंका पिंड और मल (विष्टा) बतलाया है, इसलिये किसी भी हालतमें गोवर शुद्ध नहीं माना जा सकता। जैनधर्मके सच्चे उपासक आचार विचारके पालन करनेवाले महानुभाव उसका स्पर्श करना भी पाप समझते हैं, फिर भगवान जिनेंद्रकी आरतीमे तो उसका उपयोग हो ही नहीं सकता। जो लोग गोवरसे भगवान जिनेंद्रकी आरतीके पक्षपाती हैं वे हठवादी हैं। जो हो अनेक प्रमाणोंके आधारसे यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि गोवर महा अपवित्र पदार्थ है। शास्त्रोंमें उसे मल (विष्टा) कहा है। अब पं० मक्खनलालजीने उसे शुद्ध बतानेमें जो प्रमाण दिये हैं उनपर हम विचार करते हैं—

पृष्ठ नं० ५३ ५४ में पं० मक्खनलालजीने भाई रतनलालजी

के वे शब्द उद्धृत किये हैं जो उन्होंने तीन लोकके नाथ भगवान जिनेंद्रकी आरतीमें गोवर विधान देखकर दुःखित हृदयसे निकाले हैं। पंडितजीने उन शब्दोंके आधारसे यह लिख मारा है कि "झांझरीजीने पूज्य आचार्योंको गाली दी है। जैनधर्मका घोर अपमान किया है" इत्यादि। परन्तु पण्डितजीने झांझराजीके भावोंकी ओर ध्यान नहीं दिया। जिन लोगोंने गोवर सरीखो भ्रष्ट चीजोंसे भगवान जिनेंद्रकी आरतीको विधान कर, जो जैनधर्मकी पवित्रता पर पानी फेरा है, उससे सच्चे जैनधर्मोको दुख हुए विना नहीं रह सकता। झांझरीजीको असभ्य, हीन (नीच) बडे घरकी हवा खिलाये जानेके योग्य आदि तक लिखा गया है। यह अनुचित ही है। झांझरीजीने न तो आचार्योंको ही गाली दी है, न पांडे चम्पालालजीका बुरे वचन सुनाये हैं। वहां तो जिन्होंने गोवर और गोमूत्रको पवित्र मान जैनधर्म पर हिन्दूधर्मकी छाप लगाकर उसके सच्चे स्वरूपको नष्ट करनेकी चेष्टा की है उनके लिये वे दुखभरे वचन हैं। पडितजीने यह भी लिखा है कि झांझरीजी संस्कृत पढ़े नहीं, शास्त्रोंका मर्म समझते नहीं, फिर उन्होंने गोवरको किस प्रकार विष्टा लिख डाला है, जान नहीं पड़ता। झांझरीजी बीस पंथ तेरह पथमें फूट डालना चाहते हैं इत्यादि।" इसका उत्तर यह है कि प्रश्नोत्तर श्रावकाचारके कर्ताने उसे त्रिष्टाकी विष्टा बताया है, प० दौलतरामजो प० किसनलालजीने भी उसे महानिंद्य और विष्टा कहा है। प० सदासुखदासजीने भी उसे मल (विष्टा) कहा है, फिर रतनलालजीका कहना शास्त्रोंकी आज्ञानुसार है।

उन्हें वृथा गाली सुनाकर अपनी पंडिताईका रोआब जमाना व्यर्थ है। खेद यह है आप नाम सुनकर ही अपनी राय दे देते हैं। भाव की ओर ध्यान नहीं देते, इसीलिये आपका विचार महत्त्व नहीं रखता।

पृष्ठ नं० ५७-६० तक पंडितजीने गोबरको शुद्ध करनेके लिये आठ कल्प उठाये हैं सबोंका अर्थ यही है कि गोबरसे लीपा जाता है और गोबरके छाणोंपर दालबाटी पकाकर खाई जाती है। इसका उत्तर यह है कि गोबरको लोक लाजसे शुद्ध मान लिया है उससे लोगोंके देखादेखी मकानोंका लीपना आदि प्रचलित है। परन्तु उससे वह भगवान जिनेंद्रकी आरतीके काममें आवे यह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महानुभाव सच्चे जैनी हैं, जैन धर्मके अहिंसा स्वरूपको समझते हैं, वे गोबरका स्पर्श तक नहीं कर सकते और जब वे गोबरके छाणोंको चोका तकमें ले जाना अपवित्र मानते हैं तब उनपर की हुई दालबाटी तो वे खा ही नहीं सकते। इस रूपसे जैनधर्मके सच्चे जानकार जब गोबरका छूनी पाप समझते हैं, तब पं० मक्खनलालजीका यह कहना कि दि० जैनियोंमें गोबर पवित्र और मांगलिक द्रव्य माना जाता है तथा वे उसके छाणोंपर की हुई दालबाटी खाते हैं, यह बहुत बड़ा धोखा देना है। नामधारी जैनी विना समझे लोगोंकी देखा देखी गोबर अपना लिकले तो वह उनकी अजानकारी है। अपनाने मात्रसे कोई पदार्थ शास्त्रोंकी दृष्टिमें शुद्ध नहीं हो सकता। जैनियोंमें और भी बहुत सी बातें अज्ञानतासे प्रचलित हैं, तो क्या वे भी

धर्म दृष्टिसे ठीक मानी जा सकती है ? आपने लिखा है मनुष्यकी विष्टा पर पैर पड जानेसे स्नान करना पड़ता हैं। गोवर पर पैर पड जानेसे नहीं, इसलिये गोवरको विष्टा कहना भूल है इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि गोवरको मनुष्यकी विष्टा नही कहा गया, गायकी विष्टा कहा गया है और वह गायकी विष्टा ही है। गायकी विष्टा छोड़कर उसे कोई मक्खन मिश्री नहीं वता सकता। आपने लिखा है—"होमादि कुंडोंको गोबरसे लीपा जाता है" सो इसका समाधान यह है कि यह लेख उन्हीं ग्रंथोंमें पाया जाता हैं जिनकी कि जैनधर्ममें प्रामाणिकता नहीं। मान्य आचार्योंके किसी ग्रंथमें यह विधान नहीं। आपने जो लिखा है झाझरीजीने गोबरको विष्टाके बराबर बताया है सो ठीक नहीं, खल रस भागके परिणमन एवं वस्तुस्वरूपमें भेद होनेसे विष्टा और गोवर भिन्न २ पदार्थ हैं" इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्यके खल रस भाग जुदे २ हैं, परन्तु मनुष्योंको विष्टाके विषयमें यह नहीं कहा जाता कि अमुककी विष्टा विशेष अपवित्र है और अमुककी विष्टा विशेष अपवित्र नही। इस रूपसे खल रस भागका हेतु पोच है और उससे गोवरकी पवित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये लोकरीतिके आधारसे जो पंडितजी गोवरको पवित्र सिद्ध करना चाहते हैं, वह सिद्ध नहीं हो सकता। पृष्ठ नं० ६० में

मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च
शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत्। ११

अर्थात्—मिट्टी ईंटका चूरा राख और गोबरके द्वारा वहां तक शुद्धि करनी चाहिये, जहां तक कि निर्मलता आजाय। यह यशस्तिलक चम्पूका श्लोक उद्धृत कर गोबरकी पवित्रता सिद्ध की गई है। परन्तु इस रूपसे गोबर इतना पवित्र नहीं माना जा सकता कि वह भगवान जिनेन्द्रकी आरतीकी सामग्री बन सके। टट्टी आदिसे आकर हाथ धोनेके विषयमें यह कहा गया है कि जबतक बदबू दूर न हो जाय तबतक मिट्टी आदिसे बराबर हाथ धोना चाहिये। लोक रीतिमें यह बात देखी जाती है, उसीको शास्त्रमें लिख दिया गया है, इस लिये इस रीतिसे गोबर भगवान जिनेन्द्रकी आरतीके लायक पवित्र नहीं हो सकता। पृष्ट नं० ६१ में—

'लौकिक शुचित्वमष्टविधं—कालाग्नि भस्म मृतिका गोमयेत्यादि" राजवार्तिककी पंक्ति उद्धृत की है। यहां पर लौकिक शुद्धिमें गोबर लिया गया है, यही पकड़ कर उसे पवित्र सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है, पर यहां पर भी यही भाव है कि लीपने हाथ धोने आदिके लिये ही गोबर काममें आ सकता है। भगवान जिनेन्द्रकी आरती उससे नहीं की जा सकती। लौकिक शुद्धि माननेका अर्थही यह है कि वह लौकिक कामोंमें ग्रहण किया जा सकता है, धार्मिक कामोंमे उसका उपयोग नहीं हो सकता। इस लिये गोबरको भगवान जिनेन्द्रकी आरतीकी सामग्री बताना महा भूल है। चारित्रसारमें भी इसी प्रकार गोबरको लौकिक शुद्धिमें माना है, उसका तात्पर्य यही है लीपना हाथ धोना आदि कामोंमे गोबरका ग्रहण हो सकता है। पूजा आदि धार्मिक कार्य उससे

नहीं किये जा सकते। पृष्ठ न० ६३ में-

तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः
सरिन्निर्भरणाद्यंभः शुष्कगोमयखंडकं।२।
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबु फलादिकं
प्रासुकं न भवेत्स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ३।

अर्थात्—नदीके झरने आदिका जल, सूखे गोवरका टुकड़ा (कण्डा उपला), भस्मादि अपने आप छोडी गई मयूरको पिच्छें सूखी तुंबी आदि जो प्रासुक चीजें हैं वे यदि किसीके द्वारा बिना दी हुई हैं उन्हें भी ग्रहण करने वाले जो श्रेष्ठ मुनि हों तो उन मुनिराजको प्रमोदका योग न होनेसे चोरीका दोष नहीं लगता। ये दो श्लोक श्लोकवार्तिकके उद्धृत किये हैं। यहां पर सूखे गोवरके कण्डेका उल्लेख रहनेसे पंडितजीने गोबरको पवित्र सिद्ध करनेकी जो चेष्टा की है, वह व्यर्थ हैं जब सिद्धान्त यह है कि मुनिगण बिना दी मिट्टी और जल भी नहीं ले सकते तब वे जंगल में पड़ी मोरकी पिच्छे तुंबी आदि कैसे ले सकते हैं, यह भी तो विचारना चाहिये। यहां पर श्लोक वार्तिक पंक्तियोंका मतलब यह है कि—

झरनेका पानी, गोवरका टुकड़ा, मयूरकी पिच्छें तुम्बी आदि चीजें जो जंगलमें पड़ी रहती हैं, उनका कोई मालिक नहीं। मुनियोंको इन चीजोंके लेनेकी आज्ञा तो शास्त्र नहीं देता, परन्तु

यदि मुनि लेवें तो उन्हे चोरीका दोष, नहीं लग सकता। यदि गोवर यहां मुनियोंके किसी काममें आता तो उसे शुद्ध मोना जाना, सो तो काममें आता नहीं फिर इस लेखसे गोवरको पवित्र नहीं माना जा सकता। लौकिक शुद्धियोंमें गोवर लिया गया है इसलिये झरनेके पानी आदिके साथ उसका भी ग्रहण कर दिया है। कुछ भी हो, भगवान जिनेंद्रकी आरतीमे गोवरका उपयोग नहीं हो सकता। पृष्ठ नं० ६३ में—

पं० सदासुख दासजीने काल शौच अग्नि शौच आदि आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें गोमय शौच भी माना है अर्थात लौकिक दृष्टिसे गोबरको ग्रहण करने योग्य कहा है। इसका तात्पर्य भी यही है कि वह लीपने हाथ धोने आदि लौकिक कार्योंमें काम आ सकता है। पूजा आदि धार्मिक कार्योमें उसका ग्रहण नहीं हो सकता। रत्न करंड श्रा० टीका पृष्ट नं० १८२ में पं० सदासुख दासजीने गोबर, गोमुत्रको स्पष्टही मल-मूत्र बतलाया है। जब उनके मतानुसार गोबर मल (विष्टा) हैं, तब वह भगवानकी आरतीमें कभी नहीं लिया जा सकता। यहां पर यह बात और भी विचारने की हैं कि राजवार्तिक और चारित्रसारमें पवन शौचका लौकिक शुद्धिमें उल्लेख नहीं किया हैं, पं० सदासुख दासजीने किया है यह भेद कैसा। मालूम होता है भगवान अकलङ्क देव और चामुण्डरायको पवन शौच पसन्द न था अथवा उस समय प्रचलित न होगा, पं० सदासुखजीके जमानेमें प्रचलित होगा। इस रूपसे यह बात समझमे आजाती है कि लौकिक

शुद्ध घियोंका विधान लोकके देखादेखो है। पं० सदासुख दास जीने मलोंकी अपवित्रतामें जहां हीनाधिकता बतलाई हैं, वहां पर गोबरको ग्रहण योग्य मल बताया है, परन्तु कहा मलहा है तथा जो मल है उससे भगवान जिनेन्द्रकी आरतीका करना बडाही निंद्य काम है। पं० मक्खनलाल जीने जो रत्न करंड श्रा० टीकाके आधारसे गोबरको पवित्र सिद्ध करनेकी चेष्टा की है लखयहढीकभूल हैं। जब वहां बराबर गोबरको मल कहकर। कि गया है, तब मलसे भगवान जिनेन्द्रकी आरती कैसे हो सकती है। यह भी तो विचारना चाहिये। पृष्ठ न० ६६ में—

पूजा और आरतीमें भेद बतलानेके लिये पण्डितजीने वृथा कई पृष्ठ काले किये हैं जो भेद पंडितजीने आरतीका बतलाया है उसे सब जानते हैं। प्रकरणमें आरतीसे भगवान जिनेन्द्रकी आरतीका ग्रहण है। यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो भगवान जिनेन्द्रकी आरती और पूजाकी द्रव्य भिन्न २ रहते भी उद्देश दोनों का एकही है। आठों कर्मोंके नाशकी इच्छासे ही लोगोंकी प्रवृत्ति पूजा आरतीमें होती है, इस लिये भगवान जिनेन्द्रकी आरती और पूजाको किसी-रूपसे एक कह देना भी विरुद्ध नहीं झोंझरीजीका तात्पर्य भी आरतीसे भगवान जिनेन्द्रकी आरतीका ही है। उनके शब्दों पर विचार न कर मक्खनलालजीने वृथा उन्हें कोसा है। पंडिताई जाहिर करनेका यह तरीका विद्वान पसन्द नहीं कर सकते। पृष्ट न० ६९ में पंडितजीने लिखा है—

गोबरके साथ आरती हमने भी नहीं की है, परन्तु उस शास्त्रा-

ज्ञाका हम निषेध नही कर सकते । प्रतिष्ठाचार्यों को यह अवसर जरूर मिला होगा ।" इत्यादि ! यहां पर यह कहना है कि जब शास्त्रकी आज्ञा गोवरसे आरती करनेकी है तब आपने क्यों नहीं की । आज्ञा क्या दूसरोंको कहनेके लिये ही हैं स्वयं माननेका नहीं । आज्ञा रहते जो कार्य नहीं किया जाय वह उस आज्ञाका अविनय है आगमका अपमान करना है । आश्चर्य है कि शास्त्रोंमें गोवरसे आरतीका विधान रहते भी कहीं भी किसी देशके किसी मन्दिरजीमे गोवरसे आरती करना देखा सुना नही गया । कहीं तो होना सुना जाना था । जिन्होंने गायको देवता मान रक्खा है और उसके गोवर गोमूत्रको अमृत समझ रक्खा है, उनके यहा भी यह भ्रष्ट विधान नही कि भगवानकी आरती और अभिषेक गोवर गोमूत्रसे हो । शिथिलाचारियोंने जैन शास्त्रोंको गोवर और गोमूत्रको पवित्रताके लिये और भी आगे बढ़ा दिया हैं । यह बड़ी लज्जाकी बात है पृष्ठ नं० ७० में

'देहेस्मिन् विदितार्चने निनदति' इत्यादि श्लोक यशस्तिलक चम्पूका उद्धृत किया है । वहां पर भगवानको आरती गोबर से भी करना लिखा है इस लिये आपने गोबरको पवित्र कह डाला है । हमने इस श्लोकके ऊपर नीचेके विषय पर जब विचार किया है तो यही मालूम हुआ है कि यह श्लोक बे प्रकरण वहां जबरन कहींका घुसेड़ा गया है । क्षेपक है । आचार्य सोमदेव ऐसा भ्रष्ट विधान नहीं कर सकते । आचार्योंका विचार भेद हो सकता है परन्तु विचारमें भ्रष्टता नहीं आ

सकती। तीन लोकके नाथ भगवान जिनेन्द्रकी आरती गोवरसे हो यह सर्वथा अनुचित है। पृष्ठ नं० ७१ से ७३ तक—

"भूम्यांत्त पतित गोमये'त्यादि नेमिचन्द प्रतिष्ठा पाठकी पंक्तियां उद्धृत कर आपने गोवरसे आरती करना पुष्ट किया है तथा नेमिचन्दको गोम्मटसारके कर्ता आचार्य नेमिचन्द लिखा है यह पं० मक्खनलालजीकी बड़ी भारी अजानकारी है। आपको इतिहासके आधारसे यह बात लिखनी थी। नेमिचंद प्रतिष्ठा पाठके इतिहासकी खोज करनेसे पता लगा है कि नेमिचन्द एक गृहस्थ ब्राह्मण विद्वान थे। जैन होनेपर भी वे हिन्दूधर्मके कट्टर पक्षपाती जान पड़ते थे। विचारनेकी बात है जो हिन्दू धर्मका पक्षपाती हो, कर जैन ग्रंथ लिखेगा, वह जरूर अपने मतकी बातें उसमें घुसे: ड़ेगा। गृहस्थ ब्राह्मण नेमिचन्दजीने जो अपने बनाये प्रतिष्ठा पाठ में गोवरसे आरती और गोमूत्रसे अभिषेक लिखा है, वह उन्होंने ठीक ही किया है, क्योंकि वे तो उसे पवित्र मानते ही थे फिर भला जैनियोंसे उसे पवित्र मनानेकी वे क्यों चेष्टा नहीं करते। इन नेमिचन्द ब्राह्मण गृहस्थको आचार्य बना देना और उसे पुजा देना पं० मक्खनलालजीका अति साहस समझना चाहिये। पण्डितजी महाराज! जब एक गृहस्थ ब्राह्मणोंको आप आचार्य बना सकते हैं तब गोवरसे आरतीकी पुष्टि कर देना आपके लिये बड़ी बात नहीं। बलिहारी आपकी समझदारीका है। पृष्ठ नं० ७३ में—

'गोमयैर्नूतनैः शुद्धैः' इत्यादि अकलंक प्रतिष्ठापाठके वचन

उद्धृत कर गोबरसे आरती करना सिद्ध किया है तथा अकलङ्कदेव को राजवार्तिकके कर्ता भगवान अकलङ्कदेव लिख डाला है। यहां पर भी पण्डितजीने बहुत बड़ी गलती की है; यह प्रतिष्ठा पाठ भी भगवान अकलङ्कदेवका बनाया नहीं हो सकता। यह नाम फ़र्जी है। प्रतिष्ठा पाठकी मान्यता बढ़ानेके लिये भगवान अकलङ्कका नाम दिया गया है। यह भी किसी ब्राह्मणकी ही कृति है। ऐसे ग्रंथकारोंको आचार्य अकलंकदेव बना देना बड़ी भूल है। जब प्रतिष्ठा पाठकी ही प्रामाणिकता नहीं तब उसमें जो गोबरसे आरतीका विधान बतलाया है वह कैसे ठीक माना जा सकता है? इस रीति से इस प्रतिष्ठा पाठके आधारसे भी गोबर शुद्ध नहीं माना जा सकता। उसे पवित्र बताकर जैन धर्मकी पवित्रता नष्ट करना है। पृष्ठ नं० ७६ में

'मह्किपा गोमयका मसमपिंडो' इत्यादि इन्द्रनंदी भट्टारककृत इन्द्रनंदिसंहिताकी पंक्ति उद्धृत की है, उससे गोबरसे आरतीका विधान है उससे पण्डितजीने गोबरको पवित्र सिद्ध करना चाहा है। यहापर भी वही लिखना है कि भट्टारक इन्द्रनंदीके वे वचन शिथिलाचारी भट्टारक होनेके कारण हो सकते हैं। गोबरसे आरतीका विधान मान्य आचार्य वचनोंसे नहीं हो सकता। इस रूपसे पण्डितजीने जितने भी प्रमाण दिये हैं वे उन प्रतिष्ठा पाठों के हैं जो कि जैनधर्ममें अप्रामाणिक माने जाते हैं। और जो दूसरे प्रमाण दिये हैं उनमें गोबरको लौकिक शुद्धिमें माना है। धार्मिक

कार्यमें उसका उपयोग नहीं हो सकता। अतः गोवरसे भगवान जिनेन्द्रकी आरतीकी पुष्टि करना शास्त्राज्ञाके विपरीत है। पृष्ठ नं० ७६ में आपने यह भी लिखा है—"लेख बाहुल्यसे अधिक प्रमाण नहीं दिये गये हैं, आगम पर श्रद्धा लानेवालोंके लिये इतने प्रमाण ही पर्याप्त हैं। जिन्हें आगमकी पर्वाह नहीं है किन्तु अपनी और अपनी युवक मंडलीका बालका ही हठ है, उन लोगोंके लिये यह हमारा लेख पर्याप्त है भी नहीं" इत्यादि। इस विषयमें प्रार्थना यह है कि अप्रामाणिक ग्रन्थोंके प्रमाण, प्रमाण नहीं कहलाते। आपने लौकिक शुद्धिमें गोवरका नाम देख उसका उपयोग भगवान जिनेन्द्रकी पूजामें बता दिया है, यह आपकी गलती है। ऐसे कहींके प्रमाणोंको कहीं घसीट कर गोबर पवित्र सिद्ध नहीं हो सकता। यदि लीपने या हाथ धोनेके लिये गोवरका निषेध किया जाता तो यह प्रमाण आपका लागू हो सकता है। सो निषेध किया नहीं गया। आपने अप्रामाणिक प्रतिष्ठा पाठोंके प्रमाण भर मारे हैं। इन्हें कैसे माना जाय। जब वे ग्रन्थ ही प्रमाण नहीं, तो उनकी बातें कैसे प्रमाण मानी जा सकती हैं। आपने एक यशस्तिलक ग्रंथका प्रमाण दिया है। वह क्षेपक है उसकी भी महत्ता नहीं। अब आपही सोचें आपने क्या प्रमाण दिये? कैसे आपके प्रमाणों पर श्रद्धा की जाय? हमें आगमकी श्रद्धा है, धार्मिक विषयमें युवक मण्डलीका हठ भी नहीं, तब ऐसा आपका लिखना व्यर्थ है। ऐसे खोखले हऔवका किसी पर प्रभाव नहीं पड़ सकता।

प्रमाण एक भी न होंगे, डींग मारी जायगी प्रमाणोंकी, सो कैसे हो सकता है? पण्डितजी! प्रमाणोंके न रहते आपको ऐसा लिखना ठीक ही है। मर्जी आपकी। पृष्ठ नं० ७७ में पण्डितजीने ऐसा प्रकट किया है—

चर्चा सागरमें गोवरसे आरतीका लेख आनेसे जब उसका बहिष्कार किया जायगा तो सभी प्रतिष्ठा पाठोंका बहिष्कार करना होगा क्योंकि उनमें गोवरसे आरतीका उल्लेख है। जब प्रतिष्ठा पाठोंका बहिष्कार हो जायगा तब बिम्बप्रतिष्ठा मन्दिर प्रतिष्ठा आदि कैसे प्रमाण समझी जायगी इत्यादि। इसका उत्तर यह है। उन प्रतिष्ठा पाठोंमें भ्रष्ट बातें मिलाकर जो उन्हें भ्रष्ट किया गया है उन बातोंको निकालकर इन्हें शुद्ध करना ही होगा। और उनके आधारसे प्रतिष्ठा हो सकेगी। गोवरसे आरती करने और गोमूत्रसे भगवान जिनेंद्रका अभिषेक होनेसे ही प्रतिष्ठा पूरी नहीं हो सकती। इनके विनाभी पूरी हो सकती है। गोवर और गोमूत्रसे आरती अभिषेक करना महा नीच काम है। कोई सच्चा जैनी इस निंद्य बातको नहीं कर सकता। पृष्ठ नं० ७८ में आपने लिखा है—

चर्चा सा०का बहिष्कार और इसकी अप्रमाणताका हो हल्ला मचानेवाले भाई आचार्यकृत प्रतिष्ठा पाठोंके प्रमाण देखकर अपनी भूल पर पश्चात्ताप करें तो महान अचार्य श्रीमद्भट्ट अकलंक देव, आचार्य नेमिचंद आचार्य इन्द्रनंदि आचार्य सोम

देव आदि महान् आचार्यों का जो अपमान हुआ है उससे जितना भारी पाप बंध हुआ है वह हलका अवश्य हो जायगा इत्यादि।

इस विषयमें यह प्रार्थना है कि चर्चासागरमें जो प्रमाण दिये हैं उनमें जो वचन भ्रष्टाचारियोंके हैं, उनके सम्बन्धसे उसका बहिष्कार हुआ है। कोई भी जैनी भगवान अकलंकदेव, नेमिचंद आदि पूज्य आचार्योंका अपमान नहीं कर सकता। उनके नामसे जो जालसाजी की गई है उस जालसाजीका अपमान है। इतिहासकी खोजके लिये परिश्रम न कर आपने प्रतिष्ठा पाठोंके कर्ताओंको जो भगवान अकलंक देव नेमिचन्द सिद्धांत चक्रवर्ती आदि मान लिया है यह आपकी अजानकारी है। जिन्होंने प्रतिष्ठा पाठोंकी पोल खोली है उन्होंने खूब सोच विचार कर काम किया है, उनके कर्त्ता ये पूज्य आचार्य नहीं हो सकते, जिनका नाम आपने गिनाया है आप विचारशक्तिको काममें लाकर दूसरों पर कलंक लगानेकी चेष्टा न करें, आपके कहे अनुसार यह कोई नहीं मान सकता कि झांझरीजी और उनके साथियोंने आचार्योंको गालियां दी हैं। दूसरोंको बदनाम करनेके लिये यह आपका जाल बिछाना व्यर्थ है अपनी नासमझीसे दूसरोंको नीचा दिखाना बुद्धिमानी नहीं। प्रतिष्ठापाठोंके कर्त्ता कौन थे ? यह खुद आपको भी ज्ञान नहीं। इस विषयमें आप दूसरोंसे जाननेकी चेष्टा करें।

सारांश यह है कि गोबरको पवित्र सिद्ध करनेके लिये आपने जो भी प्रमाण दिये थे उनमें एक भी पुष्ट प्रमाण सिद्ध नहीं हुआ।

इसलिये आपके द्वारा दिये गये प्रमाणोंसे जब गोवर पवित्र सिद्ध नहीं होता तब उससे भगवान जिनेंद्रकी आरती कभी नहीं की जा सकती। इसलिये भगवान जिनेंद्रकी आरती गोवरसे करना भ्रष्टाचारियोंकी कल्पना है—मान्य आचार्योंकी आज्ञा नहीं। आचार्य जिनसेन आदिने कहीं भी धार्मिक कामोंमें गोवरका ग्रहण नहीं कहा। बहुतसे लोग गोवरको पवित्र माननेमें यह हेतु देते हैं कि जिस प्रकार गायका दूध शुद्ध है क्योंकि उसके खल रस भाग जुदे २ हैं, उसी प्रकार गोवरके भी खल रस भाग जुदे २ हैं, इस लिये वह भी शुद्ध हैं। उनका इस बेशिर पैरकी कल्पनासे हमे नितांत खेद है। विचारनेकी बात है जो चीज गायके गुदा वा योनि मार्गसे निकलै वह कैसे शुद्ध कही जा सकती है। ऐसे कहने वाले यदि गायकी गुदाको गुदा और योनिको योनि न माने यह बात दूसरी है परन्तु इतनी मोटी धूल आंखोंमें झोंकी नहीं जा सकती, क्योंकि वह छोटे बड़े सभी जानते हैं। स्त्रियोंके दूध होता है, बालक उसे पीते हैं, वहभी पवित्र ही माना जाता है, उसके गुदा और योनिसे निकलनेवाली चीज भी गायके गोवरके समान पवित्र मान लेनी चाहिये। क्योंकि खल रस भाग तो यहां भी जुदे २ हैं। यदि कहा जायगा कि लोकमें वह पवित्र नहीं मानी जाती तो यह मानना होगा कि जो चीज जिस रूपसे मानी जाती है उसका उसी रूपसे उपयोग होना चाहिये। गोवर लीपने हाथ धोने आदि कामोंके लिये उपयुक्त माना गया है, इसलिये उन्हीं कामोंमें उसका

उपयोग होना चाहिये। इतना वह शुद्ध पवित्र नहीं माना जा सकता कि तीन लोकके नाथ भगवान जिनेंद्रकी आरती भी उससे हो सके। इसलिये गोवरको जो इतना पवित्र मानते हैं उनकी भूल है। बहुतसे लोग यहांपर यह भी अपनी राय देते हैं कि तीन लोकके नाथ भगवान जिनेंद्रकी आरतीमें गोवरका ग्रहण नहीं किया गया किन्तु गृहस्थावस्थामें जिस समय इन्द्र मेरु पर उनका अभिषेक करता है उस समय दूब, गोवर आदि मांगलीक द्रव्योंसे इंद्राणी बालक भगवानकी आरती करती है इसलिय उस समय भी आरतीमें गोवरका विधान है परन्तु यह कहना उसका ठीक नहीं, क्योंकि जहां पर भी गोवर से आरतीका विधान है वहांपर अर्हंत भगवानका खास उल्लेख है। अर्हंत अवस्था केवल ज्ञानके समय मानी जाती है, प्रतिष्ठा पाठोंमें भी यही उल्लेख है। वे अच्छी तरह जांच सकते हैं। इन्हीं महाशयोंका यह भी कहना है कि जब प्रतिमाओंके लिये पत्थर पसन्द कर लिया जाता है उस समय उस पत्थरका गोमूत्र आदिसे अभिषेक माना है, जिनेंद्र भगवानकी मूर्तिका नहीं। यह भी कोरी कल्पनाबाजी ही है। यह स्पष्ट लिखा है कि गो मूत्र आदिसे मैं भगवान जिनेंद्रका अभिषेक करता हूं। वे प्रतिष्ठा पाठोंसे यह अच्छी तरह निर्णय कर सकते हैं यदि किसी तरह इनकी बात मानभी ली जाय तो गोवर और गोमूत्र जिसे शास्त्रों में मलके नामसे पुकारा गया है जो अनेक त्रस (जीवों)का पिंड और निकृष्ट है उससे आरती और अभिषेकको क्या जरूरत है। संसारमें

भी अनेक उत्तमोत्तम चीजें हैं उनसे वह कार्य कर लिया जा सकता है। किसी भ्रष्टाचारीने पवित्र जैन धर्मको मलिन करनेके लिये ये बातें शास्त्रके रूपमें रख दीं तो हठ नहीं करनी चाहिये, उन बातों पर विचार कर लेना जरूरी है। यदि ये लोग कहें कि गोबर गोमूत्रसे आरती अभिषेक करनेमें बड़ा भारी जैन धर्मका रहस्य छिपा हुआ है तो इस पर हमारा इतनाही कहना है कि उस रहस्यको या तो वे ही महाशय जानते हैं या केवली भगवान जानते होंगे। हमारे सरीखा आदमी उस गूढ़ रहस्यको समझनेकी भला क्या चेष्टा कर सकता है। कुछ भी हो; यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि गोबर, शास्त्रोंकी आज्ञानुसार मल है, मलसे कोई धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता। भगवानकी आरती वा पूजा धार्मिक कार्य हैं, वह महा अपवित्र गोबरसे नहीं किया जा सकता। जो मनुष्य भ्रष्टाचारियोंके वचनोंसे ऐसा मानते हैं वे गलती पर हैं। उन्हें हठ छोड़कर शास्त्रीय बातों पर अच्छी तरह विचार करना चाहिये। पं० मक्खनलालजीकी कृपासे हमें यदि किसी सिद्धान्तकी हितकारी कथनी पर विचार करना पड़ता तो हम भी अपनेको धन्य समझते; परन्तु हमें गोबर और गोमूत्र सरीखी महानिकृष्ट मलमूत्र चीजों पर विचार करना पड़ा है, यह दुःखकी बात है। जिन परमाणुओंसे गायका गोबर और गोमूत्र बने वे परमाणु अवश्यही धन्यवादके पात्र हैं क्योंकि हमारे मित्र पं० मक्खनलाल जी और उनके साथी विद्वान उनकी तारीफ

कर रहे हैं। 'यशस्कीर्ति' नाम कर्मका उदय जड पदार्थोंमें नहीं माना जाता, परन्तु यहां तो बलात् गोबर गोमूत्रके यशस्कीर्ति नाम कर्मका उदय मानना ही होगा, क्यों कि उनका यशगान बड़े २ विद्वान नाम धारी कर रहे हैं।

मालाओं पर विचार

जिन महानुभावोंका मन निश्चल है उन्हें जपके लिये मालाओं की कोई जरूरत नही किन्तु जप करते समय जिनका चित्त ठिकाने नहीं रहता उनके लिये मालाओंका विधान किया गया है। मालायें नौ प्रकारकी मानी हैं। 'अमीरसे अमीर' और गरीबसे गरीब अपने योग्य मालाओंसे जाप 'कर सकता है। 'मालाओंके भेदमें' किसी को ऐतराज नहीं। मान्य ग्रन्थोंमें जब इस बातका उल्लेख है तब उसे स्वीकार करनेमें किसीको आनाकानी नही हो सकती। किन्तु कीमती मालाओंका जो अत्यधिकफल बतलाया है उस विषय में यह ऐतराज है कि इस प्रकारका अत्यधिक फल अन्य किन मान्य ग्रन्थोंमें लिखा है। क्योंकि जापका फल भावोंकी विशुद्धि पर है। जितने जिसके भाव जाप करते समय विशुद्ध होंगे उतनाही उसको फल प्राप्त होगा। रत्नोंकी मालासे जाप करने वालेके परिणाम यदि 'चञ्चल' हैं तो वह रत्नोंकी मालासे जाप करनेपरभी

परिणामोंमें शान्ति न रहनेसे विशेष फल प्राप्त नहीं कर सकता। और सूतकी मालासे जप करनेवालेके यदि परिणाम शान्त है तो वह मामूली सूतकी मालासे जाप करने पर भी परिणामोंमें शान्ति रहनेसे विशेष फल प्राप्त कर सकता है। इस लिये मालाओंके कीमती बेकीमती पनसे बहुत ज्यादा वा बहुत कम फलका मिलना नहीं है. परिणामोंकी शांति और अशान्तिसे बहुत ज्यादा और बहुत कम फल मिलता है। हां, यह बात जरूर है रत्नोंकी माला रखनेवाला बड़ा माना जाता है, सूत आदिकी माला रखनेवाला गरीब माना जाता है। मालाओंके फलसे इस बातका कोई सम्बन्ध नहीं। भाई रतनलालजी झांझरीने मालाओंके भेद पर कोई आपत्ति नहीं की। कीमती मालओंका जो बहुत ज्यादा फल बतलाया है उस पर आपत्ति की है। पं० मक्खनलालजीने इस आपत्तिको समझा नहीं। मालाओंके भेदोंकी उन्होंने पुष्टि कर डाली है, जिसकी कोई जरूरत न थी, क्योंकि झांझरीजीको उनके भेद माननेमें कोई ऐतराज न था, किन्तु कीमती मालाओंका जो बहुत ज्यादा फल बतलाया है, उसकी पुष्टिमें पण्डिजीने एक भी प्रमाण नहीं दिया। यहां हम चर्चासागर और भाई रतनलालजी झांझरः दोनोंके शब्द उद्धृत किये देते हैं। पाठक स्वयं जांच कर लेंगे—

चर्चासागरके शब्द

इस प्रकरणमें मालाके भेद इस प्रकार समझने चाहिये।

क्रियाकोपमें लिखा हैं।

प्रथम फटिक मणि मोती माल।
सोना रूपा सुरंग प्रवाल॥
जींवा पोता रेशम जान।
कमल बीज फुनि सूत बखान।
ये नव भांति जापके भेद।
भजिये जिनवर तजि मनखेद॥

दूसरी जगह लिखा है—

सूत्रस्य जाप्यमालायाः सदा जापः सुखावहः
दग्धमृदास्थि काष्ठाना यक्षमालाऽफलप्रदा।१।
सुवर्ण रौप्य विद्रुत मौक्तिका जपमालिकाः।
उपवास सहस्राणां फलं यच्छंति जापतः।२।

अर्थात् सूतकी माला सदा सुख देनेवाली है। अग्निके द्वारा पकी हुई मिट्टी हड्डी, लकड़ी और रुद्राक्ष आदिकी मालाएं, फल देनेवाली नहीं हैं, ये मालाएं अयोग्य हैं, ग्रहण करने योग्य नहीं हैं अर्थात् इनसे जप कभी नहीं करना चाहिये तथा सोना, चांदी मूंगा और मोतीकी माला हजारों उपवासोंका फल देनेवाली हैं। इनकी मालाओंके द्वारा जप करनेसे हजारो उपवासोंका फल मिलता है। इस प्रकार मालाओंका फल बतलाया है।

झांझरीजीके शब्द

"सोना, चांदी, मूंगा और मोतीकी माला द्वारा जाप्य करनेसे हजारों उपवासका फल प्राप्त होता है" तो क्या रत्नोंकी माला द्वारा जाप्य करनेसे लाखों उपवासका फल होगा ? लोग व्यर्थ ही सूतकी मालाओं द्वारा जाप्य करके हजारों उपवासोंका फल यों ही छोड़ देते हैं। भावोंका विचार न कर मात्र कीमती मालाओंको महत्व देना वास्तवमे नई सूझ है ।"

चर्चासागर और झांझरीजी दोनोंके शब्दोंको मिलाकर पाठक समझ गये होंगे कि मालाके नौ प्रकारके होनेमें झांझरीजीको कोई आपत्ति नहीं। किन्तु कीमती मालाओंका जो हजारों उपवासोंका फल बताया है यह और जगह मान्य शास्त्रोंमें कहां लिखा है ? ऐतराज इसीपर है। पण्डितजीको यहांपर कीमती मालाओंके बहुत ज्यादा फलकी पुष्टिमें विशेष प्रमाण देने चाहिये थे, सो आपने एक भी प्रमाण नहीं दिया। अस्तु अब हम प० मक्खनलालजीने जो लिखा है उसपर विचार करते हैं—

पृष्ठ नं० ८० में आपने लिखा है—"झांझरीजी और हम जैसे विचारवालोंको इन मालाओंके विषयमें भी क्यों कुतर्क खड़ा हो गया।" इस विषयमें निवेदन यह है कि नौ प्रकारकी मालाओं के माननेमें कोई आपत्ति नहीं। कीमती मालाओंका जो बहुत ज्यादा फल कहा है, उस विषयमें आपत्ति है कि वह किस आधारसे है ? चर्चासागरमें जो श्लोक लिखे हैं वे किस ग्रन्थके हैं ? अन्य

ग्रन्थोंमें उस बातको कहा पुष्ट किया गया है ? महाराज ! आपने प्रश्न नहीं समझा, बिना समझे यह लिख रहे हैं कि 'कुतर्क क्यों खड़ा हो गया ?" मालाओंके विषयमें हमारी कोई आपत्ति नहीं। सोच-समझ कर आपको लिखना था।

पृष्ठ न० ८० पर आपने 'प्रायदेवं तदनुति पदे" इत्यादि श्लोक एकी भाव स्तोत्रका दिया है उसमें मणियोंकी मालाओंका उल्लेख है। जिसपर किसीका आपत्ति नहीं। पृ० नं० ८१ पर 'पुष्पैः पर्णैमिरंबुज' इत्यादि यशस्तिलक चम्पूके श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें कुछ मालाओंके भेद गिनाये हैं। वे भी मान्य हैं। वहांपर कीमती मालाओंका बहुत ज्यादा फल नहीं कहा। पृ० नं० ८२ पर "स्फटिकं च प्रवालच" इत्यादि श्लोक प्रति० पा० के दिये हैं, वहापर भी कीमती मालाओंका बहुत ज्यादा फल नहीं कहा, मालाओंके भेदमात्र कहे हैं। तथा स्फटिक प्रवाल मुक्ता इत्यादि श्लोक विद्यानुवादको उद्धृत किया है, इसमें भी कीमती मालाओंका बहुत जादा फल नहीं कहा। तथा पृ० नं० ८३ पर आचार्य देवसेनका और विवाह पद्धतिको, पृ० ८४ पर भक्तामरका, पृ० ८५ में इन्द्रनन्दी संहिताका, पृ० ८६ पर वृहज्जिनवाणी संग्रह का और पृ० ८७ पर वसुनन्दि श्रावकाचारके प्रमाण दिये हैं। उनमें भी मालाओंके भेदही बताये हैं, जिन पर कोई विवाद नहीं। कीमती मालाओंकी अत्यधिकता इन प्रमाणोंमे कहीं नहीं कहा। आपको पुष्टि करनी चाहिये थी कीमती मालाओंके अत्यधिक

फल को, क्योंकि झांझरीजीकी आपत्ति उसी पर है, इस प्रकार आपने प्रश्न न समझ कर जो भी पृष्ठ काले किये हैं सब व्यर्थ हैं। कल कक्षामें मालाओंको लेकरही हमारा आपका विवाद ४ घण्टेतक हुआ था। उस समय हम यह कहते थे कि कीमती मालाओंका बहुत ज्यादा फल अन्य किन ग्रन्थोंमें लिखा है। आप उस समय भी यही कह रहे थे मालायें नौ प्रकारकी हैं। उस समय आप प्रश्न नहीं समझ रहे थे, ट्रैक्टके लिखते समय भी आपने प्रश्न न समझा, यह बड़े भारी अचरजकी बात है। अच्छा है अब विद्वान लोग हमारे प्रश्न और आपके उत्तरकी जांच कर लेंगे। पृ० नं० ८२ में आपने लिखा है—"कलकत्तामें विद्यानुवाद शास्त्रको बड़े मन्दिरजीसे मँगाकर उसमेंसे इन सब बातोंको हमने पं० गजाधर लाल जी, रतनलालजी झांझरी और उपस्थित सब भाइयोंको बताया भी था इत्यादि। क्षमा कीजिये पण्डितजी! आपने विद्यानुवाद ग्रन्थका जो पारायण किया था, वह उपस्थित विद्वानोंसे छिपा नहीं था। आपके मुंहसे अशुद्ध उच्चारण सुन सब लोग आपकी मखौल उड़ा रहे थे शायद आपको वह स्मरण होगा। १६-२० श्लोकोंका पारायण करने पर भी उसमें कहीं भी कीमती मालाओंका बहुत जादा फल नहीं निकला था। आज भी आप उससे निकालकर देते तो भी हम समझते सो अब भी आपसे निकाल कर नहीं दिया गया। हम तो समझते थे इस हास्यपूर्ण घटनाका आप उल्लेख नहीं करेंगे पर आप क्यों चूकेंगे आपको

तो इस बातका पूरा अभ्यास हैं कि थोडे लोग दोष भलेही जाने सब तो नहीं जानते ऐसा विचार कर आप अपने दोषकी पर्वाही नहीं करते। आपने सोनेके चमर छत्र आदिका उल्लेख कर वृथा पृष्ठ काले किये हैं, वे बातें फालतू हैं। पृष्ठ नं० ९० मे लिखा है—

"किसी भी आगममें रत्न मालाओंका निषेध नहीं मिल सकता। नही मालूम ये लोग किस आधार पर इन विषयोंका विरोध करते हुए शास्त्रोंको अमान्य ठहराने चले हैं? आश्चर्य हैं इस भारी दुस्साहस पर!" इसका उत्तर है कि मणिमालाओंका कोई निषेध नहीं करता,आप झांझरीजीके शब्दोंको ध्यानसे पढ़ें। आप लोगोंका दुस्साहस नहीं, क्योंकि हम लोग ठीक ही लिख रहे हैं। दुस्साहस आपका है जो प्रश्न न समझकर भी ऊटपटांग लिख कर अपनी झूठी विद्वत्ता झोंकनेमे संकोच नही करते। आप ही विचारें - मालाओंके विषयमें जो आपने लिखा है वह झांझरीजीकी आपत्तिका उत्तर हो सकता है? वे पूछ रहे हैं कुछ आप उत्तर दे रहे हैं कुछ? क्या इसीको आपने पंडिताई समझ रखा हैं। सच पूछिये तो इस निकम्मी पंडिताईसे आपने जैन समाजमें बड़ा क्षोभ पैदा कर दिया है जिसका बहुत बड़ा प्रायश्चित्त करना होगा। समाजकी शक्तिको इस तरह नष्ट करना शोभा नहीं देता।

सारांश—झांझरीजीकी आपत्ति यह थी कि कीमती मालाओं-

का बहुत ज्यादा फल और किन २ शास्त्रोंमें लिखा है। पंडितजीको उन शास्त्रोंके प्रमाण देने थे, पर पंडितजीने एक भी प्रमाण नहीं दिया। पंडितजीने इस विषयके प्रमाण दे डाले हैं कि माला इतने प्रकारकी हैं; जिस पर कोई आपत्ति न थी। यदि पंडितजी प्रश्नकी आपत्ति समझ लेते तो यह वृथा कलम पीसते। हमें तो यह जान पड़ता है कि पंडितजीको कीमती मालाओंके बहुत ज्यादा फलको पुष्ट करनेवाले किसी ग्रन्थमें प्रमाण मिले नहीं। मालाओंके विषयमें विना कुछ लिखे विद्वत्तामें बट्टा लगता था। इस लिये जान बूझकर पंडितजीने झांझरीजोकी आपत्तिका उपदेश किया है, नहीं तो पं० मक्खनलालजी झांझरीजीके मामूली शब्द न समझें यह हो नहीं सकता। पंडितजी भले ही इस ऊटपटांग प्रश्न और उत्तरकी चालको गौरवकी दृष्टिसे देखें, विद्वान तो इस चालको बुरा ही समझेंगे।

आसनोंपर विचार

जहांपर कर्म कालिमाको दूर कर आत्माकी शुद्धिका उद्योग किया जाता है वहाँ पर किसीप्रकारके आसनकी जरूरत नहीं पड़ती। वहां पर आत्मा ही आसन माना जाता है और उसीमे विराजमान होकर अपना कल्याण कर लिया जाता है। तथा जो भक्ति भावसे पूजन वा जाप की जाती है वहां पर भी कोई खास आसनकी जरूरत नही, भक्तिके रसमें ओत प्रोत व्यक्ति जिनेंद्रके गुणोंमें जब लीन होता है वहा पर भी आसनकी जरूरत नही होती। यदि वहां भी आसनकी खास आवश्यकता कही जाय तो तीर्थयात्रा वा और भी जगह; जहां पर आसन नहीं मिल सकते शिला खंड और जमीन पर बैठकर ही पूजन जाप करनी पड़ती है वहां पर फिर पूजा और जाप न हो सकेंगे, क्यो कि न आसन मिलें और न ये खास कार्य किये जायँ। चर्चा सागरमें तो शिला और भूमिके आसन पर बैठनेका फल दुखदायी बताया है तब तो जहां आसन न मिलेंगे वहा पूजा आदि हो ही न सकेंगे, क्योंकि जान बूझकर कौन दुखके झमेलेमें पड़ेगा इसलिये यही कहना पड़ेगा। कि भावोंमें यदि भक्ति रस है तो आसन वगैरह व्यर्थ हैं आचार्य अमितगतिने इस विषयको स्पष्ट इस प्रकार किया है—

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मितः
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः
न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं
न लोकपूजा न च संघमेलनं
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं
विमुच्य सर्वामपि बाह्यबासनां ॥

अर्थात् जो मनुष्य विद्वान है वस्तुका सच्चा स्वरूप समझते हैं वे आत्माको निर्मल बनानेके लिये आसन, पत्थर; तृण, भूमि, काष्ठ, खंडको कारण नही मानते, वे तो इन्द्रिय कषायोसे रहितपना ही आत्माकी निर्मलताका कारण मानते हैं अर्थात् यदि आत्मामे इन्द्रिय कषायोंकी प्रबलता है तो कैसे भी आसन पर बैठा जाय आत्मा कभी निर्मल नही हो सकता क्योंकि आसन लोकपूजा और संघकी रक्षा आदि बातें समाधि-ध्यानके कारण नही इसलिये हे आत्मन! यदि तुझे ध्यान करना है तो तू इन समस्त बाहिरी आडंबरोंको छोड़कर अपने आत्मस्वरूपमे लीन हो। आचार्य अमितगतिके इन वचनोसे यह स्पष्ट है कि पूजा जप आदि जहा आत्माकी भलाईके लिये किये जाते हैं वहां आसन वगैरह निष्प्रयोजन हैं। वहां तो भावोंकी निर्मलताकी ही आवश्यकता है परन्तु हां:—

जहापर राज्य,धन,पुत्र,आदि इस लोक संबंधो बातोंकी सिद्धिके लिये मन्त्रोंका आराधन करना पड़ता है। व्यंतरादिकोंको उपासनाकर उन्हें खुश करनेकी चेष्टा की जाती है, उनकी रुचिके अनुसार खास वस्त्र और आसन आदिकी आवश्यकता हो सकती हैं। परन्तु ये क्रियायें लौकिक स्वार्थोंकी सिद्धिके लिये मानी है, इसमें धार्मिकपना नहीं। किन्तु जो क्रियायें धार्मिक हैं उनसे यदि वंध होता है तो पुण्यका होता है अथवा आत्माके कर्ममलोका नाश होकर वह शुद्ध बनता चला जाता है, अधार्मिक क्रियाओंके लिये भाव-शुद्धिकी आवश्यकता है वहां पर आसन आदि आडवरमात्र हैं। चर्चा सागरमें जहां पर आसनोंके गुण दोपोंका विचार किया हैं वह यदि मन्त्राराधनके समय लिया जाता तो उस पर टीका टिप्पणीकी विशेष आवश्यकता न थी। परन्तु पूजा और जापके समय आसनोंमे किसीको दुखदायी और किसीको सुखदायी लिखा है यह ठीक नहीं, क्योंकि पूजा जप धार्मिक कार्य हैं। वहां पर भावों की शुद्धि प्रधान कारण है, वहापर आसन मिले तो कोई हानि लाभ नही हो सकता। भाई रतनलालजी झाझरीजीने यही लिखा है कि पूजा जापके समय यदि भाव शुद्ध है तो किसी प्रकारके आसनसे कोई हानि लाभ नही हो सकता। आसनोंपर ही बुरे भले फलका मान लेना कल्पना मात्र है। तथा चर्चासागरमें जो श्लोक दिये हैं वे त्रिवर्णाचार ग्रन्थके हैं जो ग्रन्थ अप्रमाणाक है। अन्य किसी मान्य ग्रन्थमें यह बात आसनोंके विषयमे देखनेमें नही आई इसलिये यह आसनोंके बुरे भलेका विचार प्रामाणिक नहीं,

माना जा सकता। यहांपर हम चर्चासागरके शब्द और झांझरी-जीके शब्द लिखे देते हैं; पाठक स्वयं उनपर विचार कर लेंगे—

चर्चासागरके शब्द

वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीड़ितः।
धरण्यां दुःखसंभूतिर्दौर्भाग्यं दारुकानने ॥१५॥
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः।
अजिने ज्ञाननाशः स्यात्कंबले पापवर्धनं ॥१६॥
नीले वस्त्रे परं दुखं हरिते मानभंगता।
श्वेतवस्त्रे यशोवृद्धिः हरिद्रे हर्षवर्धनं ॥१७॥
रक्तवस्त्रं परं श्रेष्ठं प्राणायामविधौ ततः।
सर्वेषां धर्मसिध्यर्थं दर्भासनं तु चोत्तमं ॥१८॥

अर्थात् वांसके आसन पर बैठकर पूजा और जप करनेसे दरिद्रता, पाषाणकी शिला पर बैठनेसे रोगकी पीडा, पृथ्वीपर बैठनेसे दुःख, दारु काठपर बैठनेसे दुर्भाग्य, तृणके आसनसे यशकी हानि, पत्तोंके आसनसे चित्तका डांवाडोल पना, मृगछाला पर बैठनेसे ज्ञानका नाश, कंबलके आसनसे पापकी बढ़वारी, नीले वस्त्रके आसनसे दुःख, हरे वस्त्रके आसनसे मानभंग सफेदवस्त्रके आसनसे यशकी बढ़वारी, हलदीके रंगे हुए आसनपर बैठनेसे हर्ष, लालवस्त्रका आसन परमश्रेष्ठ, दर्भ

(डाभ तृण)का आसन उत्तम माना है। इसके सिवाय हरि-वंश पुराणमें लिखा है कि श्रीकृष्णने समुद्रके किनारे तेला स्थापनकर डाभके आसनपर बैठकर अपने कार्यकी सिद्धि की तथा आदि पुराणमें जो गर्भान्वय आदि क्रियायें लिखी हैं उनमें भी डाभके आसनका ही विशेष वर्णन लिखा है इससे सिद्ध होता है कि डाभका आसन ही सबसे उत्तम आसन है।

झाझरीजीके शब्द

चर्चा न० २५—"भगवानकी पूजा और जप चार प्रकारके आसनपर बैठकर ही करें यथा (१) सफेद वस्त्रके आसन (२) हलदी द्वारा रंगे वस्त्र (३) लाल वस्त्र (४) डाभके आसन। अन्यथा जप और पूजा करनेवालोंको नीचे लिखे फल होते हैं:— बांसके आसनसे दरिद्रता, पाषाण शिलासे रोग पीडा, पृथ्वीसे दुर्भाग्य, तृण वा घाससे यशाहानि, पत्तोंके आसनसे विभ्रम-डांवाडोल, वनात कंवलसे पापवृद्धि, नीले वस्त्रसे अधिक दुःख चित्तका हरेवस्त्रसे मानभंग" श्रीसम्मेदशिखरजी आदिकी यात्राओंमें सभी भाई पृथ्वी या पाषाण शिलापर खड़े होकर ही पूजा करते है या करते आये हैं तो क्या इसका फल उन्हें दुर्भाग्य और रोग पीडा ही प्राप्त होगा ? पूजा और ध्यानका फल भावों द्वारा न प्राप्त होकर केवल आसनोंपर अवलंबित बताना केवल धृष्टता है। मुनिगण ऐसे आसन कहांसे प्राप्त कर सकते हैं ?

चर्चा सागरके शब्दोंपर पाठकोंने विचार किया होगा कि यहां पर मंत्राराधनके समय आसनोंपर विचार नहीं किया है किन्तु

पूजा और जप (ध्यान) के समय आसनोंपर विचार किया है पूजा और ध्यानका फल परिणामोंकी शुद्धिके आधीन है कैसे भी आसन हों यदि परिणाम शुद्ध हैं तो उसका फल अवश्य मिलेगा। यदि परिणाम शुद्ध नहीं है तो किसी भी आसनसे फल नहीं मिल सकता। झांझरीजीने ऐसे ही विचारसे आसनोंके फलोंके विषयमें आपत्ति की थी और खुलासा भी कर दिया था कि तीर्थ-यात्रा आदि स्थानोंपर जहां आसनोंकी प्राप्ति नहीं वहांपर विना आसनोंके अथवा शिला आदि आसनोंसे या तो फल प्राप्त होगा ही नहीं यदि होगा भी तो रोगकी पीड़ा आदि फल होगा, क्योंकि चर्चा सागरमें शिला आदि आसनोंसे रोगकी पीड़ा आदि दुखदायी फल बतलाये है। झांझरीजीने इस बात पर तो कोई आपत्ति ही नहीं की कि मंत्राराधनके समय ये आसन बुरे है फिर पूजा और ध्यानके समय भी आसनोंको ही मुख्य मान लेना भावोंकी निर्मलताको कोई परवा न करना, यह बात कभी युक्त नहीं हो सकती। यदि यह भी होता कि आसनोंके बुरे भले फलके विषयमें चर्चा सागरमें अन्य किसी मान्य ग्रन्थका प्रमाण होता तोभी उसपर टीकाटिप्पणी करनेकी हिम्मत न पड़ती सो तो है नहीं वहांपर प्रमाण दिया है जाली ग्रंथ त्रिवर्णाचारका, जिसकी पवित्र जैन समाजमें कोई मान्यता नहीं। इस लिये यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी है कि त्रिवर्णाचारके वचनोंके अनुसार पूजा और ध्यानके समय जो आसनोंका फल बुरा भला कहा है वह कभी ठीक नहीं हो सकता। यदि परिणाम शुद्ध नहीं है तो

हजारों उत्तमोत्तम आसनोंके रहते भी उत्तम फल नहीं मिल सकता और यदि परिणाम शुद्ध है तो कोई भी आसन मत हो अथवा बुरासे बुरा भी आसन हो, कभी निंदित फल नहीं मिल सकता। बुरे भले आसनोंसे बुरा भला फल मान लेना त्रिवर्णाचारके कर्ता की कपोल कल्पना है और चर्चासागरमें जो उसके श्लोकोंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है यह चर्चासागरके कर्ताकी विशेष समझदारीका न रखना है।

यहांपर एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि जो बात बुरी होती है वह प्रायः सबके लिये बुरी ही होती है। यह नही कि एकके लिये बुरी हो और दूसरेके लिये बुरी न हो। पाषाण शिलाके आसनको रोगकी पीड़ाका कारण बताया है और जमीनके आसनको दुखका कारण कहा है। ये आसन श्रावक और मुनि दोनोंके लिये ही दुखदायी होंगे। फिर मुनिगण भी तो पाषाण शिला वा प्रासुक जमीन पर बैठ कर ध्यान करते हैं उन्हें भी इस दुखदायी फलका सामना करना पडेगा। तब तो मुनियों को चर्चासागरके अनुसार कोई शुद्ध आसनका भी परिग्रह रखना होगा। यदि यहां पर यह कहा जाय कि आसनोंके बुरे भले फलका विचार श्रावकोंकी ही अपेक्षा है मुनियोंको अपेक्षा नही ? तो इसका उत्तर यह है कि जब पाषाण शिलाको रोगकी पीड़ाका कारण बतला दिया है। तब वह तो सभी ध्यानियोंकेलिये वैसाही फल देगा। मुनि भी उस फलसे नहीं बच सकते। यह तो यहा कहना व्यर्थ ही है कि मुनिगण परम ध्यानी होते है इस लिये

उनके लिये बुरा फल नहीं हो सकता। क्योंकि यह कल्पनामात्र है। एक झूठके लिये हजारों झूठोंकी कल्पना सरीखा है। यहांपर यह एक बात और भी है कि तृणके आसनको यशका नाश करने वाला बतलाया है परन्तु साथ ही डाभ नामक तृणके आसनको सर्वोत्तम माना है। यह बारीक बात समझमे नहीं आई। क्या डाभ, तृण नहीं है? दूसरे तृण तो बिचारे इतने बुरे और डाभ तृण इतना उत्तम यह कल्पना किस लिये है! समझ नहीं पड़ती। जो हो ये सारी कल्पनायें कुछ सार नहीं रखतीं। जो आसन शुद्ध और प्रासुक हो वह सभी ग्रहण करने योग्य है चाहे वह पाषाण शिला हो चाहें डाभ हो। पूजा और ध्यानके विषयमें आसनोंका बुरा भला फल बतलाना व्यर्थ है। हम आसनोंके विषयमें जो सार बात है पाठकोंके सामने रख चुके। अब पं० मक्खनलालजीने आसनोंके विषयमें जो लिखा है उसपर विचार करते हैं—पृष्ठ नं० ६३ में पंडितजीने लिखा है—

'परमार्थ वा पुण्य प्राप्तिके लिये जहां पूजा जप किये जाते हैं वहां आसन वस्त्र आदिकी कोई आवश्यकता नहीं किन्तु मनोरथ सिद्धिके लिये जहां पूजा ध्यान किया जाता है वहां आसनोंकी आवश्यकता पड़ती है श्री भक्तामरके मंत्रके जपते समय जो आसन माने हैं उनका भी पण्डितजीने उल्लेख किया है इत्यादि' यहां पर पण्डितजीके लिखनेमें और हमारे लिखनेमें कोई भेद नहीं परन्तु चर्चासागरमें पूजा जापका सामान्य रूपसे उल्लेख किया है वहांपर मनोरथ सिद्धि केलिये पूजा जापका कोई उल्लेखनहीं किया इसलिये 'मनोरथकी सिद्धिके लिये वहांपर बुरे भले आसनोंका विधान है' यह कभी नहीं कहा जा

सकता। यदि यह बात वहां स्पष्ट होती तो झांझरीजी कभी आपत्ति कर ही नही सकते थे। चर्चासागरमे जिस रूपसे पूजा ध्यानके समय आसनोंके बुरे भले पनपर विचार किया है उससे यह एक बड़ा भारी अनर्थ हो सकता है कि जहा पर दर्भ आदि आसन मिल सकेंगे वहां तो पूजा ध्यान करनेके लिये लोगोंकी प्रवृत्ति होगी और जहां वे आसन न मिलेंगे भूमि शिला आदि हो मिलेंगे वहां कोई भी पूजा ध्यानके लिये प्रवृत्त न होगा। यदि चर्चासागरके कर्ताका यह विचार होता कि मंत्रोंके अराधन करते समय ही ऐसे आसनों पर विचार है तो वे स्पष्ट कर देते परन्तु उन्होंने स्पष्ट नहीं किया, इसलिये परमार्थ और पुण्य-बंधके कारण ध्यान और पूजाके लिये भी आसनोंके बुरे भलेपनका विचार करना चाहिये ऐसा उनका मत है। पंडितजीने जो आसनोंका स्वरूप समझाया है वह चर्चा सागरका मत नही। चर्चा सागरको देखकर पंडितजीको अपना विचार प्रगट करना था। बल्कि पंडितजीको यह भी लिखनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी कि चर्चा सागरमें यह कमी रह गई है। अस्तु हमारे और पंडितजीके मतानुसार जब यह बात ठीक है कि किसी कामना (मनौती) को ध्यानमें न रखकर आत्मकल्याणकी अभिलाषासे जहां पूजा और जाप होते हैं वहा पर आसनोंके बुरे भलेपनकी कोई जरूरत नहीं तब चर्चासागरने जो खुलासा नही लिखा वह भूल है और ऐसी भूल रहते चर्चासागरसे कभी जीवोंका कल्याण नही हो सकता। पंडितजीको यहा पर दोही शब्द लिख देने

थे कि चर्चा सागरका ऐसा लिखना भूल है वहां पर ऐसा होना चाहिये था। पंडितजीने—

दर्भास्तरणसंबंधस्ततः पश्चादुदीर्यतां।
विघ्नोपशांतये दर्पमथनाय नमः पदं।६।

आदिपुराण। पर्व ४०

आदि पुराणजीका यह श्लोक उद्धृत किया है इस श्लोकमे दर्भ (डाभ) के आसनका उल्लेख है। प्रासुक और शुद्ध जान कर ही यहां डाभके आसनका ग्रहण किया गया है किन्तु यह नही लिखा कि सब आसनोंमे दर्भका आसन ही उत्तम है। इसलिये इस प्रमाणसे चर्चासागरमें जो यह लिखा है कि डाभका आसन सबसे श्रेष्ट है, सबसे उत्तम है. इस बातकी पुष्टि नही होती। अतः चर्चा सागरका जो लेख है वह त्रिवर्णाचारके अनुसार होनेसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि आदिपुराणमे यह श्लोक गर्भान्वयादिक क्रियाओंके स्वरूप बतलाते समय लिखा है। गर्भान्वयादि क्रियायोंमे गर्भ आदिकी रक्षाकी खास इच्छा रहती है। इसलिये वहां डाभके आसन आदिकी आवश्यकता हो सकती है। चर्चासागरमें पूजा और ध्यानके समय आसनोंके भले बुरेपन पर विचार किया है तथा वहां पर किसी कामनासे पूजा ध्यानका उल्लेख नही किया इसलिये आदि पुराणका यह श्लोक यहां कार्य कारी नहीं। पृष्ठ न० ९१ से आपने ऐसा आशय व्यक्त किया।

"आसनोंके साथ सफेद वस्त्र पीला वस्त्र रक्त वस्त्र आदि

वस्त्रोंका विधान रहनेसे आसनोंका विधान श्रावकोंके लिये किया गया है मुनियोंके लिये नहीं क्योंकि मुनियोंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा नहीं इसलिये झांझरीजीने मुनियोंके लिये आसनोंका विधान बना कर बहुत बड़ा धोखा दिया है" इत्यादि। इसके उत्तरमें निवेदन यह है कि वहांपर अवश्य श्रावकोंके लिये ही आसनोंका विधान है परन्तु आसनोंमें जो पत्थरके आसनका यह फल बतलाया है कि उसपर बैठनेसे रोगकी पीडा होती है। भूमिपर बैठनेसे दुःख होता है यह फल तो उनका मिट नहीं सकता। चाहे मुनि हो चाहे श्रावक हो जो भी उन आसनोंपर बैठकर ध्यान करेगा। उसका दुखदायी फल तो उसे भोगना ही होगा। सर्पके काटनेसे विष न चढे यह बात नहीं हो सकती। मुनियोंके लिये पाषाण और भूमिका आसन, दुखदायी फल नहीं दे; यह बात जंच नहीं सकती क्योंकि जो जिस स्वभावकी चीज होती है उसका वह स्वभाव टल नहीं सकता गुडसे सींचे जानेपर भी नीमका फल कडवा ही होता है। इसलिये यही जान पडता है कि आसनोंका उस प्रकारका बुरा भला फल कोई प्रधानता नहीं रखता। इष्टकामनाके लिये मंत्राराधनके समय वैसा आसनोंका भेद जच सकता है। इसलिये महाराज पंडितजी! झांझरीजीने किसी प्रकारका धोखा नहीं दिया चर्चासागरके कर्ताको सिद्धांत विषयक जानकारीकी कमीसे इस विषयका खुलासा करना नहीं आया है इसलिये उन्होंने लोगोंको धोखेमें डाल दिया है। आपने जो लिखा है उसे चर्चासागरसे

मिलान करलें। आपने जो आसनोंके विषयमें लिखा है क्या वही चर्चा सागरमें लिखा है! आप खुद चर्चासागरके कर्ताकी भूल समझ जाँयगे। पृष्ट नं० ९५ में—

आपने झांझरीजीको अनभिज्ञ और उद्धत लिखा है। सो मेरी रायसे तो आसनोंके विषयमें जो झांझरीजीने लिखा है। उसी बातकी पुष्टि आपने भी की है। हर एक विद्वान भी उसी वातकी पुष्टि करेगा इस लिये झांझरीजीने चर्चासागर के शब्दोंपर समझकर ही आपत्ति की है। आसनोंके स्वरूप लिखनेमें चर्चासागरके कर्ताकी ही भूल जान पड़ती है जो उन्होंने समझ बूझकर उस विषयको नहीं लिखा। इसलिये शास्त्रानुसार सच्ची वात लिखनेसे यदि झांझरीजी धोखेवाज और उद्धत हैं तो आप पहिले धोखेवाज और उद्धत कहे जायंगे क्योंकि आपका और उनका लिखना एक है। अस्तु, सारांश यह है कि किसी मंत्रके आराधन करनेपर आसन आदिके भेदोंका विचार किया जाता है किन्तु आत्म कल्याणके लिये जहा पूजा ध्यान किया जाता है वहां आसनोंके भले बुरे फल पर कोई विचार नही किया जाता। वहां तो विशुद्ध परिणामोंके रखनेमें सावधानी रखनी पड़ती है इस लिये चर्चासागरमें सभी प्रकारकी पूजा और जपके समय जो बुरे भले आसनोंके आधार बुरा भला फल माना है वह जैनागमके प्रतिकूल होनेके कारण ठीक नहीं।

व्रतभ्रष्ट और शूद्रके दर्शनपर शुद्धिका विचार

जपका अर्थ किसी पदार्थका चिंतवन करना है। ध्यानमें भी किसी एक खास पदार्थका चिंतवन ही किया जाता है इसलिये जप और ध्यान ये दोनों एक ही अर्थको कहनेवाले शब्द हैं। यह ध्यान उसी समय होता है जब चित्तकी वृत्ति स्थिर होती है। जिस चीजका ध्यान किया जाय उसीमें चित्तका लीन रहना स्थिरता कही जाती है। जिस समय मनुष्य ध्यानमें लीन होता है उस समय पांचों इंद्रियोंमें एक भी इंद्रिय अपना काम नहीं करती। सच्चा ध्यानी देखता सुनता सूंघता भी नहीं। अपने ध्येयके विचारमें मग्न रहता है। ध्यान करते समय यदि इंद्रियां अपना काम बराबर करती ही रहें तो वह ध्यान नहीं कहा जा सकता वह ध्यानका ढोंग कहा जाता है। ध्यानके समय हम देखें सुनें और सूंघें तो हमारा चित्त कभी स्थिर रह ही नहीं सकता ध्यानके समय यदि हमारे सामने चांडाल शूद्र या व्रतभ्रष्ट आ जाय तो हम उसे कभी नहीं देख सकते। यदि देखते हैं तो हमारा ध्यान कायम नहीं रह सकता। ध्यानी मनुष्यको छींक जंभाई अपान वायु भी नहीं हो सकती क्योंकि ये बातें मनकी चंचलतासे होती हैं। जब मनकी वृत्ति इधर उधर रहेगी तभी ये बातें हो सकती हैं। त्रिवर्णाचार ग्रन्थके श्लोक उद्धृत कर चर्चासागरमें

यह लिखा है कि "जाप करते समय यदि चांडाल, शूद्र, व्रतभ्रष्टके दर्शन हो जांय वा छींक, उवासी, अपानवायुका अवसर प्राप्त हो जाय तो जाप छोड़कर आचमन प्राणायाम आदिकर फिर जाप जपनी चाहिये, यह वात जैन सिद्धांतकी नही हो सकती। दूसरे मतोंमे मालाके मनकाओंका फेरना ही जप समझ रक्खा है। चर्चासागरके लिखे अनुसार जैन सिद्धांतमे भी मालाओंके मनका फेरना ही जप कहा जायगा। पर यह वात नहीं। जपमें तो किसी खास पदार्थका चितवन किया जाता है। रुआवके साथ पालती मारकर मालाके मनिकाओंके सरकानेको ही जप कहने पर तो शूद्र आदिके दर्शनसे जप छोड़ दिया जा सकता है क्योंकि वहां मन स्थिर ही नहीं। वहां तो आरामसे मालाके मनका भी सरकाये जा सकते हैं तथा और भी क्रिया आसानीसे की जा सकती हैं। अन्य मतोंमें यह वात अच्छी तरह देख सुन पड़ती हैं। जपके स्वरूपका विचार न कर हिंदूधर्मसे त्रिवर्णाचारमें यह वात ली गई है और अपनी ना समझीसे चर्चासागरमे भी यह वात ज्योंकी त्यों रख दी गई है। हां यह वात हो सकती है कि जपकी शुरुआतमें यदि यह वात हो तो आचमन आदि कर जपका प्रारम्भ किया जा सकना है क्योंकि उस समय तक जप शुरू नहीं हुआ है। जैन सिद्धांत आडम्बरी वातको नहीं मानता। ध्यानीको ऐसे आडम्बर पसन्द नहीं आ सकते। ध्यानके रसको जाननेवालेके सामने कोई भी वात हो वह ध्यानसे विचलित नहीं हो सकता। ध्यानके स्वरूपको न पहिचान कर ही

चर्चा सागरमे इस अन्य मे अहवको वातको स्थान मिल गया है। नहीं तो ऐसे आडम्बरको जैन सिद्धांतमें जगह कहां! तथा जब यह बात है कि जपका यह स्वरूप हिंदूधर्मके अनुसार है तब आचमन और प्राणायाम ये शब्द भी हिंदूधर्ममें ही प्रचलित है इसलिये यह बात भी हिंदू धर्मके अनुसार ही लिखी गयी है। यह बात भी जैन सिद्धांतके अनुसार नहीं हो सकती। यहांपर यह बात कही जा सकती है 'कि जैन ग्रन्थोंमें भी आचमन और प्राणायाम शब्दोंका उल्लेख मिलता है इस लिये हिंदूधर्ममें ही प्राणायाम और आचमनका स्वरूप है, यह बात ठीक नही। इसका उत्तर यह है कि शब्द तो ये हिंदूधर्मके ही हैं। जैनाचार्योंने जो इन शब्दोंका उपयोग किया है वह लोक रूढ़िको ध्यानमे रखकर किया है। परन्तु उनकी क्रिया जैन धर्मानुकूल बतलाई है। आचमन करते समय हाथकी मुद्रा और प्राणायामके समय नाक आदिका विकार जो हिंदू धर्ममे माना है, वह नहीं ग्रहण किया है। तथा जाप-ध्यानके समय आचमन प्राणायामका उपयोग कही भी नही लिखा यह तो त्रिवर्णाचारमें ही लिखा है या उसके आधीन चर्चा सागरमें हैं और जगह तो शौच आदि क्रियाओंके समय आचमनका विधान किया है। जिसका अर्थ कुल्ला करना है, तथा ध्यानमें दृढ़ताके लिये प्राणायामका उल्लेख किया है जिससे चित्त निश्चल होकर ध्यानके योग्य वन सके। श्राद्ध वा पितृतर्पण आदि शब्दभी हिंदू धर्मके हैं लोकरूढ़िके अनुसार जैनाचार्योंने उन शब्दोका उल्लेख किया है परन्तु उनका अर्थ जैन सिद्धांतानुसार

माना है। चर्चा सागरमें जो आचमन प्राणायाम आदूध वगैरह बातें लिखी है वे त्रिवर्णाचारके आधारसे लिखी हैं। त्रिवर्णाचारमें ये सब बातें हिन्दू धर्मके अनुसार मानी है इस लिये ये बातें जैन सिद्धातकी कभी नहीं मानी जा सकती। भाई रतनलालजी झांझरीने भी यही बात लिखी है कि जपके समय आचमन और प्राणायामका विधान नया ही सुना गया है। जैन सिद्धान्तमे ये क्रिया नहीं बन सकती। इन बातोंका लेखक जैनी नहीं हो सकता। इसपर पं० मक्खनलालजीने उनके शब्दोपर तो विचार किया। नहीं वहुतसा उन्हे कोल डाला है और ऊट पटांग लिख मारा है—हम यहां भी चर्चा सागर और झांझरीजी दोनोंके शब्द उद्धृत किये देते हैं पाठक स्वयं विचार कर लेंगे।

चर्चासागरके शब्द

अनच्युतत्यजातीनां दर्शने भाषणे श्रुते।
क्षुतेऽधोवातगमने जृंभने जपमुत्सृजेत् ॥३३॥
प्राप्तावाचाम्यते तेपां प्राणायानं षडंगकं।
कृत्वा सम्यग्जयेच्छेषं यद्वा जिनादिदर्शनं ॥३४॥

अर्थात्–'जो अपने व्रतोंसे भ्रष्ट होगया है उसका तथा शूद्रका देखना, इन दोनोंके साथ बात चीत करना, इन दोनोंके वचन सुनना, छींक लेना, अपानवायु वा उवासीका होना यदि जप करते समय ये ऊपर लिखो बातें हो जांय तो उसी समय जप छोड़ देना चाहिये और फिर आचमन और षडंग—छह अंगोसे

सुशोभित प्राणायाम कर बाकी बचे हुए जपको अच्छीतरह करना चाहिये यदि आचमन और प्राणायाम न होसके तो भगवान जिनेंद्र का दर्शन कर पीछे जप करना चाहिये।"

झांझरीजीके शब्द

"शूद्र तथा व्रतभ्रष्टके दर्शन होजाय तो जपको छोड़कर प्राणायाम और आचमन करनेसे शुद्धि हो। मुनियोंको आचमन करनेकी सुविधा किस प्रकार हो सकती है? सभी ग्रन्थोमे मुनियों द्वारा शूद्रो चांडालों और व्रतभ्रष्टोंको उपदेश देनेकी बात पाई जाती है जब वे जाप कर रहे हो और उसी समय कोई शूद्र या व्रतभ्रष्ट उनके सामने आ उपस्थित हो तो मुनि या श्रावक ने, आचमन और प्राणायाम द्वारा शुद्धि की हो ऐसा किसी महानुभावने देखा या सुना हैं क्या? यह आचमन और प्राणायामका संबन्ध जैनियोंमे नया ही सुना है। यदि रात्रिमे ऐसा अवसर आ उपस्थित हो तो रात्रिभुक्त त्यागी किस प्रकार आचमन कर सकता है? इससे मालूम होता है कि इसका लेखक जैनी नही है या जैनधर्मसे अनभिज्ञ हैं"

यद्यपि चर्चा सागरमें यह विधि गृहस्थके लिये कही है और वह त्रिवर्णाचारके आधारपर कही गई है। मुनियोके लिये वह उल्लेख नहीं। परन्तु ध्यानके समय ये बातें असम्भव हैं। यदि की जाती है तो ध्यान नही बन सकता। यदि गृहस्थ ध्यानियों के लिये ये बातें है तो ध्यानी मुनियोके लिये भी कहनी चाहिये

परंतु वहां वन नहीं सकती इसलिये ध्यानी गृहस्थ हो या मुनि हो दोनोंके लिये ध्यानके समय ऐसा होना असम्भव है इस बात को लक्ष्यमें रखकर झाझरीजीने वहां मुनियोंका उल्लेख किया है। दर असलमें जापके समय ऐसा आचमन आदिका विधान कहीं नहीं दीख पड़ता। त्रिवर्णाचार और चर्चासागरमें दीख पड़ा है। यदि कहीं होता तो प० मक्खनलालजी जरूर उसका उल्लेख करते। सो उन्होंने इस बातकी पुष्टिमें एक भी प्रमाण नहीं दिया इसलिये यही कहना होगा कि यह बात हिंदू धर्मकी है। धर्म द्रोहियोंने जैनधर्मको कलंकित करनेके लिये जबरन इन भ्रष्ट बातों को जैनधर्मका रूप देनेकी चेष्टा की है।

चर्चासागरमें यह लिखा है कि 'जापके समय व्रतभ्रष्ट आदि का दर्शन होजाय तो जाप छोड़कर आचमन इत्यादि कर फिर जाप पूरी करनी चाहिये।" पंडितजीको इस बातकी पुष्टिमें अन्य ग्रन्थोंके प्रमाण देने चाहिये थे कि अमुक ग्रन्थमें भी यही लिखा है कि—जापके समय व्रतभ्रष्ट आदिके दर्शन होनेपर आचमन आदि कर फिर जाप पूरी करनी चाहिये। परंतु पंडितजीने इस बातका एक भी प्रमाण नहीं दिया। इसलिये कहना होगा कि ध्यानके समय इस प्रकारका विधान धर्मविरुद्ध है। नहीं तो पंडितजी धर्मानुकूल उसे जरूर सिद्ध करते। पण्डितजीने तो आचमन और प्राणायामकी सिद्धिमें कुछ प्रमाण दे डाले हैं जिनकी सिद्धिकी यहां विशेष जरूरत न थी। खास विषयको तो पंडित

जीने उड़ा ही दिया है। क्या पंडितजी! त्रिवर्णाचारके सिवाय आप कह सकेंगे कि---जापके समय आचमन प्राणायामसे शुद्धि का विधान दूसरी जगह भी है ? जो हो पंडितजी समझते हैं कि जनता इतना कहा विचार कर सकती है इसीलिये उन्होंने लिखना तो कुछ चाहिये और लिख कुछ और ही मारा है खैर हम पंडितजी के जैसे शब्द हैं उन्ही पर विचार करते हैं—

पृष्ट नं० ६६-६७ तक आपने लिखा है कि "चर्चासागरमे जो यह जापके समय आचमन आदिका विधान हैं वह श्रावकोंके लिये है मुनियोंके लिये नहीं। मुनियोंके लिये बताकर झांझरी-जीने धोखेबाजी की है" इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि ध्यानी श्रावक हो वा मुनि हो व्रतभ्रष्ट आदिके देखने पर आचमन आदिका विधान उसके लिये अयुक्त है यदि श्रावकके लिये यह बात ठीक है तो मुनियोंके लिये भी होसकती है क्योंकि चित्तकी एकाग्रतासे श्रावक भी ध्यान करता है और मुनि भी करता है। इसी आशयसे झांझरीजीने मुनियोंका उल्लेख किया है उन्हें धोखेबाज बतलाना अपनी अज्ञानकारी प्रगट करना है। आपने लिखा हैं कि "आचमन प्राणायामको किया दक्षिणमे है" इस विषयमे यह लिखना है कि बहुतसे दक्षिणके पुरुषोंसे हमारा संपर्क रहा है। प्राणायाम और आचमन करते उन्हे नही देखागया। यदि कुछ करते हैं तो वे त्रिवर्णाचार सरीखे भ्रष्ट ग्रन्थके उपासक है इसलिये उनका वह कार्य हम धर्मानुकूल नही समझते क्योंकि हमें जापके समय व्रत भ्रष्ट आदिके दर्शन होने पर आचमन आदि

का विधान सिवाय त्रिवर्णाचारके दीख नही पड़ा यदि होता तो चर्चासागरके कर्ता उसका भी प्रमाण देते यदि उनसे नहीं बन पड़ा तो आप तो जरूर देते ही, सो आपसे भी तो नही बन पड़ा। इसलिये यही कहना पड़ेगा कि त्रिवर्णाचारके आधारसे जो चर्चासागरमे यह बात लिखी है वह मनगढ़ंत कल्पना है इसी लिये वह धर्म विरुद्ध है। आपने यहां पर झाझरीजीको बहुत कोसा है। सो महाराज! इस कोसनेसे चर्चासागरकी बात सिद्ध नही हो सकती।आपके पास उत्तर न होनेसे यह कोसना है। जो कि एक विद्वान कहे जानेवाले व्यक्तिकेलिये घृणित कार्य है।पृष्ट न० १००मे

पव्वदिणे ण वयेसु वि ण दंतकट्ठं ण आचामं तप्णं।
ण्हाणंजणणस्साणं परिहारो तस्स सण्णेओ ।१४।

अर्थात् पर्व और अन्य व्रतोके दिनोंमे लकड़ीकी दांतुन आचमन तर्पण स्नान अंजन नस्य इनका त्याग समझना चाहिये। यह श्लोक इंद्रनंदि संहिता का उद्धृत कर जैन शास्त्रानुसार आपने आचमनकी पुष्टि की है। प्रथम तो यहांपर यह कहना है कि संहिताके कर्ता भट्टारक हैं इसलिये संहितामें और भी अनेक बाते हिन्दू धर्मके अनुसार होने से जिस प्रकार जैन धर्मकी नहीं मानी जाती उसी प्रकार यह आचमनकी प्रथा भी हिंदूधर्ममे प्रचलित हैं इसलिये यह भी क्रिया जैन धर्मानुकूल नही हो सकती। दूसरी बात यह है कि यदि आचमनसे यहां हिंदू धर्मके अनुसार आचमनका अर्थ न लेकर

केवल 'कुल्ला करना' यह अर्थ लिया जाय तो पर्व वा व्रतोंके दिन 'मुख शुद्धि नही करना चाहिये' इतना ही अर्थ इस श्लोकका है। इससे इस बातकी पुष्टि नही होती कि 'जपके समय व्रतभ्रष्ट आदि के दर्शन होनेपर आचमन करके फिर जप पूरा करना चाहिये' क्योंकि चर्चासागरमें यही वात लिखी है और उसीकी सिद्धिके लिये पडितजीने प्रमाण देनेके लिये कमर कसी है। इस रूपसे चर्चासागरके कथनकी जब इससे पुष्टि नही होती तो प्रमाणरूपमे यह श्लोक देना निरर्थक है। आचमनकी पुष्टिमें यह श्लोक दिया जान पडता है तो उसकी पुष्टि भी इससे नही हो सकती क्योंकि चर्चासागरमें जिस आचमनका उल्लेख किया है वह त्रिव-र्णाचारके आधार से किया है। त्रिवर्णाचारमे आचमनकी विधि हिंदू धर्मके अनुकूल है जो कि जैन धर्मके विरुद्ध है। यहा तो आचमनका अर्थ केवल कुल्ला करना मात्र है। आचमन शब्द देखकर पडितजीने यह श्लोक उद्धृत कर दिया परन्तु उसके अर्थ पर विचार नही किया यह खेद है। यहापर पडितजीने यह भी लिख मारा है कि 'झांझरीजी ने जो यह लिखा हैं कि आचमन और प्राणायामका सबन्ध नया ही सुना है सो भाई झाझरीजी आप और आपके समर्थकोंने कितने शास्त्र देखे हैं? आपके लिये अनेको नयी वात सूझेंगी सो क्या अमान्य ठहरेंगी इत्यादि।" इसके उत्तरमें यह कहना है कि कम से कम आपके बराबर तो समर्थकोंने शास्त्र देखे ही हैं। समर्थकों

मे इतनी विशेषता और हैं कि वे शब्दमात्रसे नहीं भडक उठते वे गहराई टटोलते हैं। आप शब्दमात्रसे संतोष कर लेते हैं। चर्चासागरमे तो कुछ लिखा हैं पुष्टि आप कुछ और ही कर रहे हैं यह आपको ही शोभा देता है। पृष्ठ नं० १०१ में —

बहिर्विहृत्य सम्प्राप्तो नानाचाम्य गृहं विशेत्।
बहिरागतो नानाचम्य गृहं प्रविशेत्

अर्थात् बाहिरसे आकर घरमे कुल्ला करके ही घुसना चाहिये।' ये वाक्य यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृतके लिखकर आचमन की पुष्टि कीगई है। यहांपर भी आचमनका अर्थ कुल्ला है। हिन्दूशास्त्रके अनुसार यहा आचमनकी क्रिया नहीं लीगई। बाहरसे आकर हाथ पैर धोकर कुल्ला कर घरमे घुसना चाहिये यह बात शास्त्रीयता नहीं रखती लोकमें यह रिवाज दीख पडती है। तथा पुज्जाउवयरणाइय इत्यादि भाव संग्रहकी गाथा उद्धृत की है वहापर भी यही अर्थ है कि भगवान जिनेन्द्रकी पूजा स्नान कुल्ला करके करनी चाहिये। महाराज पंडितजी! चर्चासागरमें जो लिखा है उसकी पुष्टिमे आप प्रमाण दे। इधर उधरकी बातोमें कोई तत्व नहीं। तथा:—

'तावत्प्रातः समुत्थाय'—इत्यादि श्लोकमे यह बताया है कि शौच और कुल्लाकर प्रात. कालकी विधि करनी चाहिये। यहां पर भी आचमनका अर्थ कुल्ला है। इससे भी चर्चासागरकी बात

पुष्ट नहीं होती। यहांपर आपने झांझरीजी और उनके मित्रोंको बेहद कोसा है यह खोखापन है। पृष्ट नंबर १०३ में आपने—

सुनिर्णीतसुसिद्धांतैः प्राणायामः प्रशस्यते
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चांतरात्मनः।

अर्थात् अंतरात्माकी स्थिरता और ध्यानकी सिद्धिके लिये पूर्ण सिद्धान्तके जानकार मुनियोंने प्राणायामको उत्तम बतलाया है। ज्ञानार्णवका यह श्लोक उद्धृत कर प्राणायामकी पुष्टि की है। परन्तु इस रूपसे प्राणायामकी पुष्टि करना व्यर्थ है कारण प्राणायाम शब्द हिंदूधर्मका है। प्राणायामका लोकमें अधिक प्रचार होनेसे भट्टारक शुभचंद्रने उसे जैन धर्मके रूपमें ढाला है। क्यों कि जैन शास्त्रोंमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ही दो प्रशस्त ध्यान माने हैं। प्राणायाम यदि ठीक जैनधर्मके अनुकूल किया जायगा तो वह धर्मध्यानमें ही गर्भित होगा क्योंकि चित्तकी स्थिरताके लिये ही धर्मध्यान किया जाता है। प्राणायाम करनेका भी यही प्रयोजन है। इसरूपसे प्राणायाम जैन सिद्धांतका खास शब्द नहीं। जेन सिद्धांतके अनुसार चाहे उसे प्राणायाम कह लो चाहे और कुछ नाम रख दो कोई आपत्ति नहीं। त्रिवर्णाचारमें प्राणायामका स्वरूप हिंदूधर्मके अनुसार माना है इसी पर झांझरीजीने आपत्ति की है। तथा स्थिरीभवंति चेतांसि इत्यादि दो श्लोक ज्ञानार्णवके और भी उद्धृत किये हैं उनमें भी प्राणायामको चित्तकी स्थिरताका कारण माना है यह भी लोकमें प्रचलित प्राणा-

यामको जैनधर्ममे ढाला हैं। इस रूपसे जैन शास्त्रोंमें प्राणायाम का विधान नहीं माना जाता किन्तु लोगोंके कहनेके लिये यह कह दिया जाता है कि भाई हम भी प्राणायाम मानते है और उसका तात्पर्य यह है। यदि प्राणायाम शब्द जैन आगमका होता तो ज्ञानार्णवके सिवाय अन्य भी प्राचीन शास्त्रोंमें उसका उल्लेख मिलता। सो नहीं दीख पड़ता। पृष्ट नं० १०० में

त्रिधा लक्षण भेदेन संस्मृतः पूर्व सूरिभिः
पूरकः कुंभकश्चैव रेचोकस्तदनंतरं।

अर्थात् पूर्वाचार्योंने पूरक कुंभक और रेचकके भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका माना है। यह श्लोक उद्धृत कर प्राणायामके भेद बताये हैं। परन्तु भट्टारक शुभचंद्रके पूर्व किन प्राचीन आचार्योंने इस विषयको स्पष्ट किया हैं ज्ञात नहीं होता। ध्यानका विषय कई प्राचीन ग्रन्थोंमे आया है परन्तु चर्चासागरके अनुसार प्राणायामका उल्लेख नहीं दीख पड़ा। तथा

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरक
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुंभक।
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्म पुरातनै
वहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचाक इति स्मृत.।

ज्ञानार्णवमें ये दो श्लोक 'उक्तंच' कहकर दूसरे ग्रंथके दिये हैं। ये श्लोक जहांतक मालूम पड़ता है वैशेषिक दर्शनके हैं। किसी जैन

शास्त्रके नहीं। पण्डितजीने उन्हें जैनशास्त्रके मानकर यह लिख मारा है कि प्राणायामकी क्रिया ज्ञानार्णवसे पहिले भी जैन सिद्धान्तमे प्रचलित थी यह उनकी गलती है। छानबीन करनेसे यह बात चौडे आजायेगी और यह भी स्पष्ट हो जायगा कि प्राणायाम— पूरक कुंभक रेचक ये सब बाते हिंदूधर्मकी हैं। उन्हें बुद्धिमत्तासे जैन धर्मानुसार ढाला गया हैं। पृष्ट नं० १०५ मे—

आकारं मरुता पूय कुंभित्वा रेफवह्निना
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म स्वतो भस्म विरेच्य च। १८३

अर्थात् ध्यानके समय अपने समस्त आकारको पवनसे वेष्टित मानना तो पूरक हैं। रेफरूपी आगसे उसे कुंभित करना रोकना कुंभक है और स्वयं अपने शरीरसे कर्मोंको जलाकर उनकी भस्मको बाहिर फेंकना यह रेचक है। इस तत्वानुशासनके श्लोकसे तो यह स्पष्ट ही हो जाता है कि पूरक कुंभक और रेचक ये शब्द दूसरे मतके हैं। उनका अर्थ उस मतमें दूसरे प्रकार माना है परन्तु वह अर्थ ठीक न होकर ठीक यही है। ऐसे करनेसे ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती हैं और उसी ध्यानसे आत्माका कल्याण हो सकता है। शास्त्रोंमे यह देखनेमें आता हैं कि भगवान जिनेंद्रको ब्रह्मा विष्णु महादेव बुद्ध आदि कह दिया जाता हैं। परन्तु स्तुति उनकी जिनेंद्रके स्वरूपसे ही की जाती है ब्रह्मा वा विष्णु आदिके स्वरूपोंसे नही उसी प्रकार ध्यान की क्रियाको पूरक कुंभक आदि नाम दे दिये जांय परन्तु कहना

उन्हे धर्मध्यान हो होगा क्योंकि ब्रह्मा विष्णु आदि शब्दोंके समान पूरक कुंभक आदि शब्द भो परमतके हैं। पृष्ट नं० १०६ मे आपने।

तत उपविश्य पूर्ववदाचामनं कृत्वा ओं ह्रीं असि आ उसाय नम स्वाहा अनेन पंचगुरूणां त्रिवारं जलादि अर्घ्यप्रदानं विधाय पुनराचामनं कृत्वा पंचा दश तर्पणानि कुर्यात् ओं ह्रीं अर्हद्भ्यः स्वाहा ओं ह्रीं सिद्धेभ्य स्वाहा इत्यादि

अर्थात् फिर बैठकर पहिलेके समान आचमन करके 'ओं ह्रीं असि आ उसाय नमः स्वाहा' इस मन्त्रको बोलकर पंच परमेष्ठियोंको तीन बार जलादि अर्घ देकर फिर आचमन करके पंद्रह तर्पण करे। ओं ह्रीं अर्हद्भ्यः स्वाहा ओं ह्रीं सिद्धेभ्यः स्वाहा इत्यादि पंद्रह तर्पण मन्त्र है इस प्रकार अकलंकप्रतिष्ठापाठका प्रमाण देकर आचमनकी पुष्टि की है। यहांपर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि यह हिंदूधर्मके अनुसार आचमनको नकल की है वहांके मन्त्रों मे असि आ उसा, आदि जैनमंत्र जोड़ दिये हैं। यह सब बनावटी मालूम होता है ऐसी नकलसे जैनधर्मकी रक्षा नही हो सकती। इसी तरह अंगुष्ठानामिकाभ्या नासाविवरणद्वय इत्यादि नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठके शब्द उद्धृत कर आचमनकी पुष्टि की है। यह भी बनावटी है। दूसरे मतकी बातोंको इस प्रकार ढालने पर वे आगमकी बाते नहीं मानी जा सकती।

लोंका भेद ढूंढिया पंथियोका है। गुजरातमें इनकी प्रबलता अधिक थी। इनकी क्रियायें भ्रष्ट होती ही हैं। किसी कारणवश भट्टारक श्रुतसागरने षट् पाहुडकी टीका लिखते समय "अयत्याचारा गृहस्थधर्मादपि पतिता उभयभ्रष्टा वेदितव्याः ते लोंका इत्यादि लिख कर सवेरे उनका नाम लेना और मुह देखना भी बुरा बतलाया है। पाठक जानते हैं ढूंढिया मत जुदा ही है। उस मतके पालन करनेवालोंको व्रतभ्रष्ट नही कह सकते क्योंकि दि० जैनधर्मानुसार जो व्रत धारणकर उसे छोड देता है वह भ्रष्ट कहा जाता है। 'लोंका लोग जब जुदे हैं तो वे व्रतभ्रष्ट नही कहे जा सकते। शूद्रोंसे अस्पृश्य शूद्रोंका ग्रहण है वे अस्पृश्य भी नहीं। इस रूपसे लोंका लोग जब व्रतभ्रष्ट और शूद्र दोनों ही नही कहे जा सकते तब पृष्ट नं० १०७मे व्रतभ्रष्ट और शूद्रके दर्शनका निषेध ऐसा मोटे अक्षरोंमें हेडिङ्ग देकर पण्डितजीने उन्हे व्रतभ्रष्ट और शूद्र कैसे कह दिया ? यह जान नहीं पडता। यदि इस उदाहरणको न देकर कोई दूसरा उदाहरण पण्डितजी दे देते तो भी ठीक रहता परन्तु वहां तो जो मनमे आता है वह लिख दिया जाता है। विचारके लिये तो दिमागको कष्ट दिया ही नहीं जाता पृष्ट नं० १०८ मे असंजातान्यसंसर्ग. सुधीर्देवानुपाचरेत् अर्थात् विद्वानको चाहिये कि दूसरेके सपर्कसे रहित होकर वह देवोंकी उपासना करे। ये शब्द यशस्तिलक चंपूके दिये है। और ये पूजाके समय कहे गये हैं। पूजाके समय स्नान पूर्वक शुद्ध धोती

दुपट्टा पहिन कर पुजारी दर्शन करनेवाले जैनियोंको भी नहीं छूता क्योंकि उनके वस्त्र शुद्ध नहीं रहते। इन वाक्योंको उद्धृतकर क्या पण्डितजीका यह भी मत है कि जिन्हें पुजारी नहीं छुता वे दर्शनोंके लिये मन्दिरमें आये हुए सभी जैनी व्रतभ्रष्ठ और शूद्र हैं। मालूम नहीं होता इन वचनोंके उद्धृत करनेकी यहां क्या आवश्यकता थी क्योंकि इस श्लोकमे व्रतभ्रष्ट और शूद्रके स्पर्श का निषेध नही किया गया। ऐसो वे प्रकरण- वार्त लिखनेमें न मालूम पण्डितजीने क्या महत्व समझ रक्खा है पृष्ट नं० १०८ में

चांडालादिक नर जिते हीन करम करतार।
तिनहि लखन वचनहि सुनत अंतराय निरधार॥

यह दोहा क्रिया कोषका उद्धृतकर चांडालादिको देखना उनके वचन सुनना अंतरायके कारण माने हैं परन्तु यहां पर यह नहीं कहा कि जप करते समय यह अंतराय है क्योंकि चर्चा-सागरमें जप करते समय इनका देखना बुरा कहा है। जो हो चर्चासागरमें यह लिखा था कि जप करते समय यदि व्रतभ्रष्ट या शूद्र के दर्शन हो जायं तो जप छोड देना चाहिये फिर आचमन प्राणायाम या जिनेन्द्र दर्शन कर शेष जपको पूरा करना चाहिये। इस बातकी पुष्टिमें पण्डितजीको प्रमाण देने चाहिये थे परन्तु आपने एकभी प्रमाण नहीं दिया ठीकही है जब यहबात जैनधर्मानुकूल हो तब तो प्रमाण दिये जासकते हैं जब यह बात है ही नहीं तब प्रमाण कहांसे दिये जा सकते हैं? भाई रतनलालजी झांझरी ने यह लिख दिया था कि यह आचमन और प्राणायामका नाम

नया सुना है । क्योंकि झाझरीजीका तात्पर्य यह हैं कि त्रिवर्णाचारमें जो आचमन और प्राणायामका वर्णन है वह हिन्दूधर्मके अनुसार होनेसे प्रामाणिक नही माना जा सकता। वस इसी वातपर आचमन और प्राणायामकी पुष्टिके लिये पण्डितजीने कई प्रमाण दे डाले हैं पर वहापर आचमनका अर्थ कुल्ला-या मुख शुद्धि मात्र है । हिन्दुधर्मके अनुसार मन्त्रपूर्वक आचमनका विधान नही तथा प्राणायामका अर्थ जो ऊपर तत्वानुशासनके श्लोकके आधारसे किया गया है वह है। ये शब्द और इनकी क्रियायें हिंदूधर्ममे प्रचलित हैं। इनका विशेष प्रचार देख जैनधर्म के अनुकूल इन क्रियाओंको ढाला गया हैं। जिन ग्रन्थकारोंने यह कार्य किया है अपनी समझसे अच्छा ही किया है परन्तु मैं इस बातको पसन्द नही करता क्योंकि सभी मनुष्योंको आचमन और प्राणायामका जैन धर्मानुकुल अर्थ नही मालूम हो सकता। प्रचार भी जैन धर्ममे उसका कम है। शायद पण्डितजी खुद भी आचमन प्राणायाम नही करते होंगे । इस रूपसे लोककी देखादेखी आचमन प्राणायम क्रियायें की जानेपर जैनधर्मकी पवित्रता नष्ट होती हं। किसी भी रूपमें इन बातोंकी पुष्टि न होकर इनका खन्डन ही होना चाहिये। दूसरे मतके शब्दोको जैन शास्त्रमें उद्धृतकर पवित्रजैनधर्मकागौरव नही कायम रहसकता। पण्डितजीने आचमनकी पुष्टिमे प्रतिष्ठापाठोंके शब्द उद्धृत किये हैं वहा तो स्पष्ट ही हो जाता है कि हिन्दूधर्मके मंत्रोंमे फेरफारकर तथा जैनधर्मके जवरन मन्त्र गढ़कर उनकीजगह बैठाकर

वह बनावटी रचना को गई है। अस्तु चर्चासागरकी जिस बातको अनेक अन्य प्रमाणोसे पुष्टि होनी चाहिये उसको पुष्टि न कर पण्डितजीने वृथा समय नष्ट किया है इस बातका खेद है।

किस ओरमुखकर पूजा करनी चाहिये इसपर विचार

पूजाका अर्थ भक्तिपूर्वक सेवा करना है। देव पूजा गुरु उपासना आदि छह आवश्यक कर्मोमे पूजाका सबसे पहिले विधान किया हैं। गृहस्थको प्रतिदिन पूजा करनी ही चाहिये नहीं तो गृहस्थपना निरर्थक है। ऐसा जगह२ शास्त्रोंमे विधान मिलता है। जितनेभर मनुष्य पूजा करते हैं वे अपने कल्याणके लिये करते है चाहे वे किसी भी रूपसे पूजा करें। पूजाके समय जो उनके परिणामोमें निर्मलता होती है उससे अवश्य उन्हे पुण्यबन्ध होता है और उस पुण्यबंधसे संसारके उत्तमोत्तम सुख मिलनेके बाद उन्हे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। भगवान जिनेन्द्रका मुख पूर्व उत्तरकी ओर शास्त्रोंमे प्रशस्त माना है उसी आधारसे पुजारीको भी पूर्व और उत्तर मुख होकर पूजन करनी चाहिये ऐसा लिखा हैं परन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता कि पूजाका फल पूर्व दिशा और उत्तर दिशाकी ओर मुख करने वालोंको ही मिलता है और अन्य दिशाओंकी ओर मुख करके

पूजा करनेवालोको भयङ्कर हानि उठानी पडती है। क्योकि इस रूपसे पूजाका फलाफल वतानेपर भलावुरा करनेमें दिशाही कारण पडती है। पूजासे जो परिणामोमे निर्मलता होती है उसका कुछ फल नही मिलता। यह निश्चित है पूर्व और उत्तर दिशाकी ओर मुख करनेवालोके यदि परिणामोमें निर्मलता नहीं है तो लाख प्रयत्न करनेपर भो उन्हें पूजाका फल नही प्राप्त हो सकता और यदि उनके परिणामोंमें निर्मलता है तो पश्चिम और दक्षिण दिशाकी ओर मुखकर पूजा करनेपर भी पूजाका उत्तम फल अवश्य प्राप्त होता है। यह तो हो ही नहीं सकता कि पश्चिम दक्षिण दिशाको ओर मुखकर पूजा करनेवालोको पुत्र नाश आदि अनिष्ट फल प्रात हों। चर्चासागरमें यदि इतना ही लिखा रहता कि पूर्व और उत्तर दिशाकी ओर मुखकर पूजन करनी चहिये तो भी किसी वातकी आपत्ति नही हो सकती थी परन्तु वहां अन्य दिशाओंमे मुखकर पूजा करने पर पुत्रनाश आदि अनिष्ट फल वताये गये हैं यह अवश्य ही खटकने लायक वात है। क्योंकि चर्चासागरमे ये वातें उमास्वामीश्रावकाचारके आधारसे लिखा गई हैं। उमास्वामि श्रावकाचार तत्वार्थ सूत्रके कर्ता भगवान उमास्वामिकृत नही हैं उनके नामसे कल्पित है। आदिपुराण आदि ग्रन्थोंमें भो पूजाका प्रकरण आया हैं वहापर किसी दिशाका वुरा फल नहीं वतलाया। उमास्वामिश्रावकाचार ने कहांसे लिख मारा। यह वात विचारनेकी है। जो हो हमचर्चासा

गरके शब्द यहां उद्धृत किये देते हैं और झांझरीजीने उनपर क्या आपत्तिकी है। यह भी लिखे देते हैं पाठक स्वयं विचार कर लेंगे।

चर्चासागरके शब्द

पश्चिमाभिमुखीभूय पूजां कुर्याज्जिनेशिनां
तदा स्यात्सन्ततिच्छेदो दक्षिणस्यामसंततिः।
आग्नेय्यां चेत्कृता पूजा धनहानिर्दिनेदिने।
वायव्यां संततिर्नैव नैऋत्यां तु कुलक्षयं।
ईशान्यां नैव कर्तव्या पूजा सौभाग्यहारिणी।

अर्थात् भगवान जिनेन्द्र देवकी पूजा पश्चिम दिशाकी ओर मुखकर करनेसे संतानका नाश होता है। दक्षिण दिशाकी ओर करनेसे सन्तान नहीं होती है। आग्नेयी दिशाकी ओर करनेसे दिन दिन धनकी हानि," वायवी दिशाकी ओर करनेसे संतितका न होना, नैऋत्य दिशामे करनेसे कुलका नाश और ईशान दिशाकी ओर मुख कर पूजा करनेसे सौभाग्यका नाश होता है। इस प्रकार वर्णन है। ऐसा समझकर पूर्व और उत्तर दिशाको ओर मुख करके ही भगवानकी पूजा करनी चाहिये। बाकी की दिशाओं वा विदिशाओंकी ओर मुख कर पूजा करनेमे अनेक दोष आते हैं ऐसा जानकर उन दिशाओंको ओर मुखकर कभी पूजा नहीं करनी चाहिये। केवल अपनेको सम्यक दृष्टि मानने वाले अन्य कितने ही जीव अपनी बुद्धिके बलसे तथा हठसे

सामने खड़े होकर पूजा करनेका उपदेश देते हैं सो वे अपना तथा दूसरोका दोनोंका अकल्याण करते हैं। ऐसे लोग शास्त्रोंकी बातोंको भी नही मानते केवल अपने हटको दृढ़ करते रहते हैं। ऐसे लोगोंको जिनवचनका विरोधी ही समझना चाहिये।

झांझरीजीके शब्द

भगवानको पूजा करनेवालेका पूजा करते समय यदि पश्चिम दक्षिण, आग्नेय, वायव्य, नऋत्य और ईशान दिशामे मुखहोतो क्रमश सन्तान नाश, पुत्र पौत्रादिनाश, प्रति दिन धन हानी, सन्तान नहीं होना, कुलनाश एव समस्त सौभाग्य नष्ट हो जाना लिखा गया है। भगवानकी पूजनका-ऐसा खोटा फल बतलाना पाप है, यदि ऐसा हो तो जहापर चतुर्मुख प्रतिमाजी विराजमान हो वहा चारो तरफसे पूजा नही करनी चाहिये। मन्दिरोंमें सदा भगवानके सामने चौकीके अगल बगल खडे होकर लोग पूजा किया करते हैं ऐसी अवस्थामें कुछ भाइयोका मुख पश्चिम दक्षिण दिशाओंमे अवश्य होता है तो क्या भगवानकी पूजाका महान फल प्राप्तिके बजाय केवल मात्र एक ओर मुख कर लेनेसे इतने भयङ्कर दुःख प्राप्त होंगे। कैसा अन्धेर है।

पाठकोंको मालूम होना चाहिये कि चर्चासागरके ये श्लोक उमास्वामि श्रावकाचारके हैं जो श्रावकाचार भगवान उमास्वामि द्वारा बना हुआ न होकर किसी ढोंगीका बनाया है। उसमें पश्चिम आदि दिशाओंमें जो पूजा करनेका महा दुखदायी फल

बतलाया है वह इस श्रावकाचारके कर्ताकी कल्पना है। अन्य ग्रन्थोंमें इस प्रकारका भयङ्कर फल कहीं भी नहीं लिखा। यही नहीं उमास्वामि (?) श्रावकाचारके वचनोंके अनुसार न चलनेवालोंको हठी जैनधर्मका द्वेषी तक बतला दिया है। झांझरीजी ने यहांपर यही आपत्ति की है कि यह बात जैनधर्मके अनुकूल नहीं हो सकती। इसपर पं० मक्खनलाल जीने अनाप शनाप लिख मारा है जो कि बिलकुल ही जैन शास्त्रोंके विरुद्ध है पण्डितजी के निरर्थक शब्दोंपर तो हम पीछे विचार करेंगे पहिले पाठकोंके सामने हम धुरंधर आचार्योंके वे प्रमाण पेश करते हैं जिनसे सन्मुख आदि बैठकर पूजा करनेमें महान फल बतलाया है। वे प्रमाण इस प्रकार हैं—

आचार्यवर्य स्वामी वट्टकेर कृत मूलाचारका जैन समाजमें बहुत बड़ा आदर है। यह बात हम ऊपर खुलासा रूपसे लिख चुके हैं जहांपर उन्होंने पूजाका प्रकरण लिखा है वहां सन्मुख खड़े होकर पूजा करनेका फल इस प्रकार बतलाया है—

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तहय भत्तीए
तो भत्तिरागपुव्वं वुच्चइ एदं णहि णिदाणं ५७२। पृ० २१८

तेषामभिमुखत अर्थाः सिध्यंति तथा च भक्त्या ॥
सा भक्तो रागपूर्वमुच्यते इदं न हि निदानं ॥५७२॥

तिन जिनवरादिकनिका सन्मुख पणां करि तथा भक्तिकरि वांछित अर्थ सिद्ध होय है कि या आत्म स्वभावकी सिद्धि होयहै

नातें या भक्ति, राग पूर्वक कहिये है। अर निदान नाहीं है क्योंकि यामें संसारका कारण पणाका अभाव है यातें। यहापर इस प्रमाणसे स्पष्ट है कि भगवान जिनेन्द्रके सन्मुख होकर पूजा करने से विशेप फलकी सिद्धि होती है। सन्मुख होकर पूजा करने वाला चर्चासागरके शब्दोके अनुसार जैनधर्मका विरोधी नही हो सकता। यदि ऐसा कहा जायगा तो स्वामी वट्टकेर महाराज सबसे पहिले जैनधर्मके विरोधी बनेगे क्योंकि उन्हौंने सन्मुख होकर पूजा करनेका विधान किया है।

और भी प्रमाण

प्रातः स्मरणीय भगवज्जिनसेनाचार्य श्री आदिपुराणमें इस प्रकार सन्मुख होकर पूजा करनेका विधान करते हैं पर्व ४८ में विवाह क्रियाके वर्णनमें उन्होंने इसप्रकार लिखा है।

पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयो ।
दंपत्योःपरया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥ १२८॥

अर्थात्—किसी पवित्र आश्रममें सिद्ध भगवानकी प्रतिमाके सन्मुख बड़े ठाटवाटके साथ उन दोनों दंपतीके विवाहका उत्सव मनाना चाहिये। यहांपर भी सिद्ध भगवानकी प्रतिमाके सन्मुख ही विवाह कार्य करनेकी आज्ञा दी है—

और भी प्रमाण

जहांपर आदि पुराणजीमे वर्णलाभ क्रियाका वर्णन किया है वहापर भगवज्जिनसेनाचार्यने इस प्रकार लिखा है—

तदापि पूर्ववत्सिद्ध प्रतिमार्चन मग्रतः ।
कृत्वान्योपासकान् मुख्यान् साक्षीकृत्यार्पयेद्धनं १३८

अर्थात् उस समय भी पहिलेके समान सिद्ध भगवानकी प्रतिमाकी पूजा करे और उसके आगे मुख्य २ श्रावकोंके समक्ष भट चढावे । यहांपर भी इस क्रियाका जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाके सामने ही विधान किया है।

और भी प्रमाण

आदिपुराण पर्व ३६ में जहा उपासक दीक्षाका वर्णन किया है वहापर आचार्य जिनसेनने इस प्रकार लिखा है—

जिनार्चाभिमुखं सूरिर्विधिनैवं निवेशयेत्
तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहु स्पृशन् ।

अर्थात्—यह तुम्हारी श्रावककी दीक्षा है इस प्रकार कहकर दीक्षा देनेवालेके मस्तकपर वार वार हाथ फेरता हुआ आचार्य भगवान जिनेन्द्रकी पूजाके वाद भगवान जिनेन्द्रके आगे उस दीक्षा देनेवालेको वैठाये । यहांपर दीक्षाके समय भी सामने हीका विधान किया है । चर्चासागरके कथनानुसार क्या आदिपुराणके कर्ता भगवज्जिनसेनाचार्यको भी जिन वचनोंका विरोधी कहा जायगा ? क्योंकि उन्होंने पूर्व और उत्तर दिशामें पूजा आदिका विधान न कर सन्मुख होकर पूजाका विधान किया है।

और भी प्रमाण

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित त्रिलोकसार की प्रतिष्ठा जैनसमाजमें बहुत बढ़ी चढी है पूजाके प्रकरणमें आचार्य नेमिचन्द्रजी इस प्रकार लिखते हैं।

गाथा—दिव्वफलपुप्फहत्था सत्थाभरणा सचामराणीया
बहुधयतूराराबा गत्ता कुव्वन्ति कल्लाणं ॥९७५॥
पडिवरसं आसाढ़े तह कत्तिय फग्गुणे य अट्ठमिदो।
पुण्णदिणोत्तिय भिक्खं दो दो पहरन्तु ससुरेहिं ।९७६।
सोहम्मो ईसाणो चमरो वइरोयणो य दक्खिणदो।
पुव्ववरदक्खिणुत्तरदिसासु कुव्वंति कल्लाणं ।९७७।

छाया-दिव्य फलपुष्पहस्ता· शस्त्राभरणा सचामरानीका
बहुध्वजतूर्यारावा· गत्वा कुर्वन्ति कल्याणं ।९७५।
प्रतिवर्षमाषाढ़े तथा कार्तिके फाल्गुने च अष्टमीत
पूर्णदिनांतं चाभीक्ष्ण' द्वौ द्वौ प्रहरौ तु स्वसुरैः ।९७६।
सौधर्म ईशान· चामरो वैरोचन' प्रदक्षिणत.
पूर्वापरदक्षीणोत्तरदिशासु कुर्वन्ति कल्याणं ।९७७।

अर्थ—दिव्य फल पुष्प आदि पूजन द्रव्य हस्त विषै धारे हैं। बहुरि प्रशस्त आभरण पहरे हैं। चामरनिकरि सहित सेना युक्त है। बहुत ध्वजा अर वाजित्रनिके शब्दकरि सयुक्त हैं। ऐसे होत संते अपने स्थाननि ते तहा नदीश्वर द्वीप विषै जाय इन्द्रध्वज

आदि जो जिन पूजन रूप कल्याण ताहि करै हैं। ६७५। वर्ष वर्ष प्रति आषाढ़ मासविषै अर तैसेही कार्तिक मास विषै अर फाल्गुन मास विषै अष्टमी तिथि तैं लगाय पूर्णिमा दिन पर्यंत अभीक्ष्ण कहिये निरंतर दोय २ पहर अपने अपने देवनिकरि। ६७६। कौन कहा करै हैं सो कहैं हैं— प्रथम स्वर्ग युगल के इंद्र सौधर्म अर ईशान बहुरि असुर कुमारनिके इंद्र चमर अर वैरोचन ये चारों प्रदक्षिणा-रूप पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर दिशानिविषै कल्याण जो जिन पूजन ताहि करे हैं। पूर्ववाला दक्षिण जाय तब उत्तरवाला पूर्व को आवै ऐसे चारो दिशानिमे प्रदक्षिणारूप महोत्सव युक्त पूजन करे हैं।६७७। यहांपर चारो दिशाओंमे स्पष्टरूपसे पुजनका विधान है। यदि दक्षिण और पश्चिममे मुख कर पूजन करनेमें सन्तान नाश आदि भयकर फलकी प्राप्ति सिद्धांतोक्त होती तो आचार्य नेमिचन्द्र कभी ऐसा विधान नहीं करते इससे बढ़कर औरपुष्ट प्रमाण क्या हो सकता हैं? इसलिये यह बात सिद्ध है कि उमास्वामि श्रावकाचारके आधारसे जो चर्चासागरमे दक्षिण और पश्चिम की ओर मुख कर पूजाका भयंकर फल वतलाया हैं वह बिल-कुल कल्पित है ओर जैन शास्त्रोंके विरुद्ध है।

और भी प्रमाण

देवोऽर्हत्प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन्नुत्तराशामुखो वा
यामध्यास्तेस्म पुण्यां समवसृतिमहीं तां परीत्याध्यवात्सुः

प्रादिक्षण्येन धींद्रा द्यु युवतिगणिनी नृस्त्रियःस्वश्चदेव्यो देवा सेंद्राश्च मर्त्या पशव इति गण द्वादशामी क्रमेण

समवसरणप्रकरण

अर्थात् "मर्यादाने अंगीकार करनवारो अरहंत देव या पवित्र समवसरण को पृथ्वीका मध्यकेविषैं पूर्वदिशाके तथा उत्तर दिशाके सन्मुख तिष्ठे हैं अरवा अर्हंतने प्रदक्षिणारूप वेष्ठन करि मुनीश्वर कल्पवासिनो आर्यकाने आदि लेय मनुष्यनिकी स्त्री ज्योतिषनी देवी, व्यंतर देवी भवनवासिनी भमनवासी देव व्यंतर देव ज्योतिषी देव कल्पवासी देव मनुष्य तिर्यंच ये द्वादश गण अनुक्रमते तिष्ठे हैं नमस्कार पूजा वन्दना करें हैं"। यहांपर भी कोई दिशाका विधान नही सभी दिशाओंकी ओर मुखकर वैठनेवाले सानन्द भगवानकी पूजा वन्दना करते हैं। यदि दक्षिण पश्चिम दिशामें मुखकर पूजा करनेसे भयंकर फल प्राप्त होता तो समवसरणकी रचना ऐसी क्यों की जाती ? परमशक्तिका धारक इंद्र लोगोंको पूर्व ओर उत्तर दिशा की ओर मुख कर ही वैठनेकी व्यवस्था करता। साक्षात् केवल ज्ञानीके विराजमान रहने पर तो कोई गलती नहीं हो सकती थी। इसलिये यही मानना होगा कि उमास्वामिश्रावकाचारमें पूजाका जो दिशाओंके अनुसार वुरा भला फल माना है वह उनकी निज की कल्पना है। पूर्वाचार्योंके ग्रंथ देख कर उन्होंने यह वात नहीं लिखी हैं। इस लिये वह कभी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। तथा जो जैनशास्त्रोंके स्वाध्याय करनेवाले हैं उन्हें यह वात अच्छी तरह मालूम हैं कि—

समवशरणमें मानस्तंभके मूलमें, अकृत्रिम मन्दिरोंमें, मानस्थंभके मस्तकपर, चैत्य वृक्षोंके मूलमें, चतुर्मुख सिद्धोंकी प्रतिमा तथा स्तूप गिरियोंमे चतुर्मुख प्रतिमायें विराजमान रहती हैं वहांपर भी दक्षिण पश्चिम मुखकर आरती अभिषेक पूजन महाअर्घ्य विधान शांतिधारा आदि होती है उन्हें धर्मविरुद्ध नहीं माना जाता। और भी इस विषयमें अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं परन्तु विस्तारके भयसे वैसा करना अनुचित मालूम पड़ता है। सारवात यह है कि पूजा करनेवाला किसी भी ओर मुखकर अपने परिणामोंकी निर्मलताके अनुसार पुण्यबंध कर सकता है चर्चासागरमें जो दिशाओंके आधीन बुरा भला फल माना है वह पूजाके स्वरूपको न समझ कर ही वैसा किया हैं। यदि दिशा ही बुरे भले फलोंके देनेवाली मानी जायगी तो फिर परिणामोंकी निर्मलता कोई चीज ही न ठहरेगी। तथास्तु अब हम पं० मक्खनलालजीने जो चर्चासागरकी बात पुष्ट करनेकी चेष्टा की है उसपर विचार करते हैं—

पृष्ट न० १०६ में पण्डितजीने चर्चासागरकी पंक्तियां उद्धृत की है। वे पंक्तियां हूबहू चर्चासागरकी नहीं उन्हें श्लोक उद्धृत करने थे! दक्षिण आदि दिशाओंका जो महा भयंकर फल चर्चासागरमें बतलाया है वह तो पण्डितजी छोड़ ही गये हैं। जो पंक्तियां पण्डितजीने उद्धृतकी हैं यदि वे वैसे रूपमें होती तो जल्दी कोई आपत्ति भी न करता। इसलिये पण्डितजीने चर्चासागरकी खास पंक्तियोंको छिपाया है। पृष्ट न० ११० में झांझरीजीके

शब्दोंपर टीका टिप्पणी की है वह भी अयुक्त है। वहींपर आपने यह भी लिखा है कि "चतुर्मुख प्रतिमाकी विशेष बात है। उसका विधान भी विशेष है, इसलिये वहांपर दिशाओंका नियम नहीं इत्यादि" परन्तु वह ठीक नहीं। क्यों कि जब दक्षिण और पश्चिम दिशाकी ओर मुखकर पूजा करना संतानताश आदि अनर्थका कारण बताया है तब वह दिशाका फल तो चतुर्मुख प्रतिमाकी पूजाके समय भी मिलेगा ही। उस समय कहां जा सकता हैं। यदि यही बात है तो आपको किसी ग्रन्थका प्रमाण देना था कि—चतुर्मुख प्रतिमाके समक्ष दिशाओंका नियम नहीं। आपने अपनी ओरसे लिख दिया वह कैसे प्रमाण माना जा सकता है? कषाय और हठ बहुत बुरी चीज हैं। जिस तरह आपने विना प्रमाणके यह कल्पना कर डाली कि चतुर्मुख प्रतिमाके समय दिशाओंका विधान नहीं उसी तरह यही लिख देते कि चर्चासागरकी इस विषयमें राय ठीक नहीं तो बखेड़ा भी न उठता परन्तु आपसे ऐसा कैसे हो सकता है? जिनको झगड़ा कर जन धनकी शक्ति नष्ट करनेमें आनन्द आता है उन्हें सच्ची बात कह कर शांतिमें कैसे मजा आ सकता हैं। चर्चासागरमें यह लिखा है कि दक्षिण आदि दिशाओंकी ओर मुखकर पूजा करनेसे सन्तान नाश आदि भयंकर फल भोगने पड़ते हैं। ऐसा ही लेख आपको दूसरे ग्रंथोंका प्रमाणरूपमें उपस्थित करना चाहिये था। परन्तु आपने एक भी उस बातकी पुष्टिका प्रमाण नहीं दिया। पूर्व और उत्तर दिशाकी ओर मुख कर पूजा करनेका

ता शास्त्रोंमे विधान है परन्तु और दिशाओंकी ओर मुख करनेपर सत्यानाशी फल मिलता है. यह कहीं भी नहीं बतलाया। पृष्ठ न० १११ में आपने—

पूर्वाशाभिमुखो विद्वानुत्तराभिमुखोऽथवा
पूजां श्रेयोऽथवा जाप्यं सुधीः कुर्यादहर्निशं।

अर्थात् पूर्व और उत्तर की ओर मुखकर विद्वानको पूजा जाप करनी चाहिये यह विद्यानुवादका श्लोक उद्धृत किया हैं। यहापूर्व उत्तर दिशाका विधान किया है। दक्षिण आदि दिशाका भयंकर फल नही बताया इसलिये आप जिस बात की पुष्टि करना चाहते हैं वह इससे सिद्ध नहीं होती। इसी तरह आपने—

उदङ् मुखं स्वयं तिष्ठेत् इत्यादि दो श्लोक यशस्तिलक चंपूके उद्धृत किये हैं। निट्ठे हि सयं पुज्जा। इत्यादि गाथा इंद्रनंदि संहिताकी लिखो है। पूरव उत्तर दिसि सुखसार। पूजक पूर्व करै मुख सार इत्यादि क्रियाकोषका छंद उद्धृत किया है। वेदो दक्षिण अरु उत्तर मुख जानिये इत्यादि तेरह द्वीप पूजाका. पूर्वाशाभिमुख. साक्षादित्यादि ज्ञानार्णव ग्रंथका. पूरव दिशि मुखकर बुधवान इत्यादि क्रियाकोषका प्रमाण उद्धृत किया है। इन सबोंमें पूर्व और उत्तर मुखकर पूजा करनेका विधान बतलाया है। दक्षिण आदि दिशाओंका भयकर फल नहीं बतलाया। इसलिये ये सब प्रमाण आपके निरर्थक हैं, चर्चासागरकी बात इनसे पुष्ट नहीं हो सकती। पूर्व और उत्तर दिशाओंमें मुखकर पूजन करना चाहिये

इस विषयमे तो कोई आपत्ति ही नही। आपत्ति इस बात पर है कि "इन दो ही दिशाओंमें मुख कर पूजन करनी चाहिये, और दिशा ओंकी ओर मुखकर नही। यदि दक्षिण आदि दिशाओमें मुखकर पूजन की जायगी तो संतान नांश आदि भय कर फल प्राप्त होगा" परन्तु इस बातकी पुष्टिमे आपने एक भी प्रमाण नही दिया। पृष्ट न० ११६ में आपने क्रियाकोषके आधारसे स्नान दातुन आदि-का विधान भी दिशाओंके आधारसे लिखा है वह भी निरर्थक है क्योंकि इसका कोई उपयोग नही फिर भी जिन दिशा ओंका विधान किया है उनसे भिन्न दूसरी दिशाओमे स्नान आदि करनेसे भयंकर फल नही बतलाया। अस्तु।

सारांश—पूर्व और उत्तर दिशाकी ओर मुखकर पूजाका विधान विशेषतासे मिलता है परन्तु सन्मुख होकर वा दक्षिण पश्चिमकी ओर मुखकर भी पूजाका विधान है इसकी पुष्टिमें ऊपर अनेक प्रमाण दिये जा चुके हैं। दक्षिण और उत्तरकी ओर मुख करनेसे संतानका नाश आदि महा भयकर फल प्राप्त होता है यह तो कहीं भी मान्य आचार्यों के ग्रन्थोंमे नही लिखा। कल्पित ग्रंथ उमास्वामी श्रावकाचारके आधारसे चर्चासागरमें लिखा देखा गया है। बस इसीपर यह आपत्ति की गई है कि "दिशाओंके आधारसे जिन पूजा का यह भयकर परिणाम और किस मान्य ग्रंथमे लिखा है।" पं० मक्खनलालजीने चर्चासागरकी पुष्टिके लिये यह विषय लिखा है परन्तु किसी ग्रंथमें पूजाका वैसा फल न मिलनेसे वे भी उस बात की पुष्टि करनेमें समर्थ नही हुए हैं। उन्होंने पूर्व और उत्तर दिशा

की ओर मुखकर पूजा करनी चाहिये, इस बातकी पुष्टिमें कुछ प्रमाण दे डाले हैं जिनका कि देना बिलकुल निरर्थक है क्योंकि उस बात पर कोई आपत्ति थी ही नहीं। पूर्व उत्तर दिशाकी ओर मुखकर पूजा करना सबोंको अभीष्ट है। इस लिये पण्डितजीने इस विषयमें जो लिखा है मात्र कई पृष्ठ निरर्थक काले किये हैं। जिस बातपर आपत्ति थी उस बातपर कुछभी न लिख कर अंडबंड लिखना बुद्धिमानी नहीं। भोले लोग भले ही समझें कि पंडितजीने प्रमाण दिये हैं परन्तु जो महानुभाव कुछ बुद्धि रखते हैं और जिन्हें कुछ भी शास्त्रका ज्ञान है, वे कभी पंडितजीके ऊट पटांग लिखनेको महत्व नहीं दे सकते। असली बात छिपाकर उधर इधर की बिना प्रयोजन बात लिखकर जो शक्ति और समय नष्ट किया गया है यह अवश्य ही महान खेदका विषय है।

श्राद्ध और पितृतर्पण पर विचार

अपने किये कर्मका फल आपको ही भोगना पडता है। दूसरा कोई भी उसमें भाग नहीं बटा सकता। जैन शास्त्रोमे इस बातका बडे विस्तारसे खुलासा किया है। यदि पुत्र चाहे कि मे अपने पिताकी तकलीफ हरलूं, तो वह हर नही सकता। एक जीव मरकर स्वर्गमें ही जन्म ले, यह भी कभी नही हो सकता। जो जीव आज मनुष्यकी पर्यायमे मोजूद है, वह मरकर कुत्ता, बिल्ली, सूअर, गधा, चमगीदड आदि निंदित पर्याय भी धारण कर लेता है। जो आज अपना पिता है वह मरकर अपना पुत्र, पोता, पर पोता तक हो जाता है। विशेष क्या आप आपके ही पौत्र हो जाता है। ऐसी अनेक कथाओसे जैन शास्त्र भरे पडे हैं। लोकमें जो श्राद्ध वा पितृतर्पणकी प्रथा प्रचलित है वह बिल्कुल कल्पित, स्वार्थियोकी चलाई हुई, मिथ्या है। क्योकि श्राद्ध वा पितृतर्पणका वे यह उद्देश बतलाते है कि ब्राह्मण और कौओको भोजन करानेसे वा और भी अनेक चीजें ब्राह्मणों को देनेसे, वे हमारे पितरोंके पास पहुंच जाती हैं परन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता। थोडी देरके लिये मानलीजिये कि किसी का पिता अपने अशुभ कर्मके उदयसे कुत्ता वा सूअर हो गया

और वहांपर भी शरीरमें रोग हो जानेसे वह महा दुखी रहने लगा। पूर्वजन्मके उसके पुत्रोंने पिताको, पितर मानकर उसका श्राद्ध किया अनेक प्रकारके दान दिये, वे ब्राह्मणोंतक ही रह गये। कुत्ता और सूअरकी पर्यायमें जो पितर थे उनके पास कुछ भी नहीं पहुंचा। अब बताइये विचारे कुत्ता और सूअर रूप पितरोंको उससे क्या लाभ हुआ। ऐसे अनेकों दृष्टांत शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। एवं श्राद्ध और तर्पणको विलकुल मूर्खोंकी कल्पना समझ जैनचार्योंने बड़े जोरसे उनका खण्डन किया है। खण्डन करते समय जैनाचार्योंने श्राद्ध तर्पणका जैन सिद्धांतानुसार अर्थ भी घटाया है परन्तु उससे जैनशास्त्रों द्वारा श्राद्ध पितृतर्पणकी पुष्टि नहीं हो सकती क्योंकि ये हिंदूधर्मके शब्द हैं इनका नामोल्लेख करनेसे जैनधर्मकी पवित्रता नष्ट होती है। जैनाचार्योंने जो इनका सच्चा अर्थ समझाया है उसके जाननेवाले बहुत कम लोग हो सकते हैं। श्राद्ध तर्पणकी क्रियायें लोकमें प्रचलित हैं। अपने शास्त्रोंमें भी उनका नाम देखकर लोग समझेंगे श्राद्ध तर्पणका विधान हमारे यहां भी है. इसलिये लोगोंकी देखा देखी वे श्राद्ध आदि करने लगजांयगे। इससे जैनधर्मको बहुत बड़ा बट्टा लगेगा। जैनसिद्धान्तमें श्राद्ध तर्पणका नाम कोई जानता ही नहीं। मुनि आदिको दान देना जो श्राद्ध तर्पण कहा गया है उसका नाम श्राद्ध तर्पण नहीं. उसका नाम आहार दान है। उसे श्राद्ध तर्पण कह देना श्राद्ध तर्पणके अर्थको जैन सिद्धांतानुसार ढालना है। इस

रूपसे जिस धर्ममे श्राद्ध तर्पणका विधान हो न हो वहा पर विधान कर देना अवश्य ही चौंका देनेवाली बात है। चर्चासागरमे जहापर तिलकका विचार किया है वहापर उसके विना श्राद्ध तर्पणको भी निरर्थक बतलाया है। वहापर श्राद्ध तर्पणका विधान देखकर स्वयमेव यह आशका हो जाती हैं कि श्राद्ध तर्पणकी प्रथा जैनियोमे कहासे आई ? जिस श्लोक से श्राद्ध तर्पणका विधान किया है वह श्लोक त्रिवर्णाचारका है। त्रिवर्णाचारमें श्राद्ध तर्पणकी पुष्टि हिंदूधर्मके अनुसार की गई है। वहापर जैन धर्मके अनुसार कोई बात ही नही कहा। भाई रतनलालजीने यह धर्म विरुद्ध बात देखकर ही आपत्ति की है। श्राद्ध तर्पणके प्रकरणमें पं० मक्खनलालजीको त्रिवर्णाचार देख कर उसको मिथ्या ठहराना था परन्तु उन्होने उस बात पर जरा भी ध्यान नही दिया। उन्होंने जैनधर्मानुसार जहा श्राद्ध, तर्पण, शब्द आये है उनके कुछ प्रमाण दे डाले हैं। जो कि बिलकुल निरर्थक हैं क्योंकि वे बातें तो मानीं ही जाती है। पर चर्चासागरमे जो श्राद्ध तर्पण लिया गया है। वह जैनशास्त्र सम्मत नहीं हो सकता। पण्डितजीने यहापर झाँझरीजीको बुरी तरह कोस डाला हैं यह उनकी गलती है। जा हो हम यहा चर्चासागरकी पंक्तिया ज्यों की त्यो रक्खे देते हैं तथा जिस ग्रन्थके आधारसे वे पंक्तिया लिखी है उन श्लोकोको भी लिखे देते है पाठक स्वय समझ जायगे कि चर्चासागरऔर त्रिवर्णाचारसे जैनधर्मकी पवित्रता किस रूपसे नष्ट होती हैं। इसके बाद हम झाझरीजीकी जो आपत्ति हैं वह भी उद्धृत करेंगे।

चर्चासागरके शब्द

जपो होमस्तथा दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणं ।
जिनपूजा श्रुताख्यानं न कुर्यात्तिलकं विना । ४-८५

अर्थात् शास्त्रोंने लिखा है कि णमोकार आदि मंत्रोंके जप, होम, सत्पात्रोंको दान, जैनशास्त्रोंका पांचों प्रकारका स्वाध्याय, पितृतर्पण, जिनेंद्रदेवको पूजन, तथा शास्त्रका श्रवण आदि कार्य विना तिलक लगाये कभी न करना चाहिये। ये चर्चासागरके शब्द हैं। यद्यपि पं० मक्खनलालजीने श्राद्ध तर्पणका अर्थ जैनचार्योंके मतानुसार किया है परन्तु यहां पर चर्चासागरके कर्ताने जिस ग्रन्थका प्रमाण दिया है उस ग्रन्थमे तर्पण और श्राद्धका अर्थ क्या लिखा है? यह देखना चाहिये। चर्चासागरके कर्ताने यह श्लोक त्रिवर्णाचारसे उठाया है उस त्रिवर्णाचारमें श्राद्ध तर्पणका खुलासा इस प्रकार किया है—तर्पण

असंस्काराश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः
तेषां संतोषतृप्त्यर्थं दीयते सलिलं मया ।११ । अ० ३

अर्थ—जो पितर संस्कार हीन मरे हों। जलकी इच्छा रखते हो और जो देव जलके इच्छुक हो उनके संतापकेलिये मै पानी देताहूं जलसे तर्पण करता हूं। ११।

हस्ताभ्यां निक्षिपेत्तोयं तत्तीरे सलिलाद्वहिः
उत्तार्य पीडयेद्वस्त्रं मंत्रतो दक्षिणे ततः । २३ ।

अर्थ—यह उपर्युक्त श्लोक पढ़कर हाथमे जल लेकर उस जलाशयके तीरपर जलके वाहिर जलको अंजली छोड़े इसके वाद वस्त्र उतार कर मंत्रपूर्वक दक्षिण दिशाकी तरफ निचौड़े। १२।

केचिदस्मत्कुले जाता अपुत्रव्यंतराः सुराः ।
ते गृह्णंतु मया दत्तं वस्त्रनिष्पोड़नोदकम् ॥१३॥

अर्थ—और जो कोई हमारे कुलमें उत्पन्न हुए पुरुष मरकर व्यंतर या असुर जातिके देव हुए हो तो वे मेरे द्वारा वस्त्र निचोड कर दिया हुआ जल ग्रहण करें । १३ । कहिये पण्डितजी महाराज! यह आपके प्रमाणीक ग्रंथ त्रिवर्णाचारमे तर्पणका खुलासा है, क्या यह आपको स्वीकार है ? यदि स्वीकार है तो आपको यह विधि खुलासा लिखकर पुष्ट करनी चाहिये थी। मुनिदान आदिको जो तर्पण श्राद्धका रूप दिया गया है उस पर न झुक पडना चाहिये था। क्योंकि ऊपरके जिस श्लोकसे श्राद्ध तर्पणका विधान किया है वह भी त्रिवर्णाचारका है। और यह विधि भी त्रिवर्णाचार में लिखी हैं। आपने श्लोकके तर्पण पदको सिद्धान्तोक्त मानकर उसकी पुष्टिके लिये तो अनेक पृष्ठ काले कर डाले और इस त्रिवर्णाचारकी लिखी विधिको प्रमाण माननेमें पोल खुलती देखकर उसका नाम तक नहीं लिखा। क्या आपके मतानुसार त्रिवर्णाचारके कर्त्ता सोमसेन जैनाचार्य नही ? उनको तो आपने जैनाचार्य कहकर लिखा है। एक बात उनको प्रमाण मानी जाय और दूसरी प्रमाण न मानी जाय यह हो ही नहीं सकता नही तो उन्हें जैनाचार्य कहना समजाको धोखा देना कहा जायगा ? अब त्रिवर्णाचारकी श्राद्ध विधि सुनिये—

तीर्थतटे प्रकर्तव्यं प्राणायामं तथाचमम् ।
संध्यां श्राद्धं च पिंडस्य दानं गेहेऽथवा शुचौ ॥१७७॥

अर्थ—प्राणायाम, आचमन, संध्या, श्राद्ध, और पिंडदान ये नदी वगैरहके किनारे पर बैठकर करे। अथवा अपने घरमें भी किसी पवित्र स्थान पर बैठकर करे। १७७।

सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासां तटे न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥७८॥

अर्थ—सिंह और कर्कट संक्रमणमें सभी नदियां प्रायः, अशुद्ध रहती हैं इसलिये उन दिनों उनके किनारे पर उक्त क्रियायें न करें किन्तु समुद्रमें जानेवाली नदियोंके तटपर करनेमें कोई दोष नहीं। कहिये पण्डितजी! इस श्राद्धको भी आप जैनधर्मानुकूल मानेंगे? ये तो आपके पूज्य सोमसेन आचार्यके वचन हैं। आपने इस बात को छिपाकर जो इधर उधरका लिख मारा है वह आपने अच्छा नहीं किया है। ऊपरके जिस श्लोकमें श्राद्धका उल्लेख किया गया है वह श्लोक जब त्रिवर्णाचारका है तब त्रिवर्णाचारका कहा हुआ ही श्राद्धका विधान आपको मानना होगा, सो आपने एकदम छोड़ दिया। झांझरीजीकी भी आपत्ति इसी तर्पण और श्राद्धके विषयमें है क्योंकि चर्चासागरमें इसीप्रकारके श्राद्ध तर्पणकी आज्ञा दी गई है। आपने जो तर्पण श्राद्धका अर्थ लिखा है उस पर तो कोई आपत्ति है ही नहीं इसलिये आपने जो श्राद्ध तर्पणकी पुष्टिमें लिखा है वह बिलकुल निरर्थक है। आपके वैसे लिखनेसे चर्चासागरके मतानुसार श्राद्ध तर्पणकी पुष्टि नहीं हो सकती। कृपानिधान! इस विषयमें तो आपको चर्चासागरका कथन सर्वथा जैन

धर्मके विपरीत करार देना होगा। देखिये झांझरीजीकी क्या आपत्ति है--

'जप होम दान स्वाध्याय पितृतर्पण पूजा शास्त्रश्रवण आदि कार्य विना तिलक लगाये नहीं करना चाहिये"। और तो ठीक परंतु यह पितृ तर्पण (श्राद्ध) जैनियोंमे कबसे शुरू हो गया ? जैनधर्मके जितने प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं क्या कहीं पितृतर्पण करना लिखा है ? जैन सिद्धान्तमें ऐसे पितृ नामकी कोई चीज मानी गयी है क्या ! जैनियोंमें यह रीति प्रचलित कहीं नहीं है। मालूम होता है यह नया विधान अपने स्वार्थके लिये प्रचलित किया जारहा हैं।" झांझरी जीके इन शब्दोंसे जिन आचार्योंने श्राद्ध तर्पण आदि हिंदूधर्मके शब्दोंको जैन सिद्धातके अनुसार ढाला है उसपर कोई आपत्ति नहीं की गई किन्तु चर्चासागरमें जो श्राद्ध तर्पण आदि लिखा है वह त्रिवर्णाचारके आधारसे लिखा है। त्रिवर्णाचारमे श्राद्ध तर्पणका विधान हिंदूधर्मके अनुसार माना है जैसा कि ऊपर लिखा गया है इसलिये झांझरीजीकी आपत्ति बिलकुल ठीक है। झांझरीजी ही क्यों अनेक आचार्योंने त्रिवर्णाचारके अनुसार जो श्राद्ध तर्पण माने हैं उन्हें धर्मविरुद्ध बताया है। जैनाचार्योंने श्राद्ध तर्पणको कितना बुरा बतलाया है। यह पर हम उनके वचनोंका उल्लेख करते हैं।

आचार्य सकलकीर्त्ति विरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें तर्पण और श्राद्धको इस प्रकार हेय बतलाया हैं।

तर्पणं ये प्रकुर्वन्ति मृतजीवादिश्रेयसे ।
मिथ्यात्वसत्त्वसंघातात्भ्रुवारण्ये भ्रमंति ते ॥१७॥

अर्थ—जो मूढ़ प्राणी मरे जीवनिके कल्याणके अर्थ तर्पण करे हैं ते प्राणी मिथ्यात्व अर प्राणोनिके घात तें संसार रूप वनविषें भ्रमै हैं ।१७।

और भी प्रमाण—

मातृपित्रादिसिद्ध्यर्थं श्राद्धं कुर्वन्ति ये वृथा ।
गृह्णंति ते खपुष्पेण वै वंध्यासुतशेखरं ॥१८॥

अर्थ—माता पितादिके सिद्धिके अर्थ जो पुरुष वृथा श्राद्ध करें हैं वे आकाशके पुष्पकरि वंध्याके पुत्रका सेहरा गूंथे हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बांझ स्त्रीके पुत्रका होना असम्भव है। आकाशके पुष्पोंकी माला होना असम्भव है उसी प्रकार श्राद्धसे माता पिताको लाभ पहुंचना असम्भव है । जोलोग ये क्रियायें करते हैं वे मूढ़ हैं ॥१८॥

और भी प्रमाण

भोजनं कुरुते पुत्र पिता पश्यति तं स्वयं ।
यदि तृप्तिर्भवेन्नैव नूनः सोऽपि कथं भवेत्॥१९॥

पुत्र हैं सो भोजन करे है अर पिता तिहिं पुत्रने आप देखे हैं सो तृप्ति ताकूं नाहीं प्राप्त होय है तो मरा कैसे तृप्त होयगा ।१९। आचार्य सकल कीर्तिने यह एक बड़ी सुन्दर युक्ति दी है। पिता पुत्र एक साथ बैठे हैं वहांपर पुत्रके खा लेनेसे पिता

का पेट नहीं भरता जब पासमे बैठनेपर पुत्रके खानेसे पिताका पेट नही भरता तब जो पिता मरकर न मालूम कहां गया है उसकी तृप्तिके लिये उसका पुत्र श्राद्ध कर ब्राह्मण आदिको भोजन करावें तो उस मरे पिताको कैसे तृप्ति हो सकती है ? इसलिये श्राद्धकी क्रिया भोले जीवोको ठगनेके लिये है। पवित्र जैन सिद्धान्तमे ऐसी क्रियाओका कभी समावेश नहीं हो सकता।

और भी प्रमाण—

आचार्य देवसेन सूरिका बनाया हुआ एक भावसग्रह ग्रन्थ है उसमें श्राद्धको इस प्रकार हेय बतलाया है—

कुणइ सराहं कोई पियरे संसारतारणत्थेण।
सो तेसिं मंसाणि य तेसिं णामेण खावेइ ॥२९॥
पृ०६ छापा

अर्थात्--पितरोंको ससारसे तारनेके लिये जो उनका श्राद्ध करते हैं वे उनके नामसे उनका मास खाते है। पाठक ! विचारिये यहापर देवसेन सूरिने श्राद्धके कार्यको कितना बुरा कहा है। ऐसे निकृष्ट श्राद्धका चर्चासागरमें विधान किया गया है और पं० मक्खनलालजी उसकी पुष्टि कर रहे हैं। यह आश्चर्य है।

और भी प्रमाण—

आचार्य सोमदेवने यशास्तिलक चपूमे श्राद्धकी इस प्रकार निंदा की है।

मर्त्येषु चेत्सद्मनि नाकिनां वा विधायपुण्यं पितरः प्रयाताः
तेषामपेक्षा द्विजकाकमुक्तैः पिंडैर्भवेद्धर्षकृतैर्न कापि
गंत्यन्तर जन्मकृतां च पितॄणां स्वकर्मपाकेन पुराकृतेन
तथापि किं तेन न दृष्टमेतत्तुष्टिः परेषां परितर्पिणोति

अर्थात्---अपने पुण्यके अनुसार पितर लोग पिता माता आदि अपने बन्धुगण मनुष्योंमे या देवोंमे पैदा हो जाते हैं अर्थात मनुष्य गति वा देवगतिमे उत्पन्न हो जाते हैं उनके लिये साल २ पीछे कौवा और ब्राह्मणोको खिलानेसे कुछ फायदा नहीं है अर्थात् उन्हें खिलानेसे परलोकमे जानेवाले पितरोंका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। अपने पूर्व कर्मके उदयसे दूसरी पर्यायमे गये हुए पितर लोग इस ब्राह्मण भोजन आदिसे कभी तृप्त नहीं हो सकते। उनका इस ब्राह्मण भोजन और काक भोजनसे कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु ब्राह्मण और काक ही संतुष्ट होते है यह बात निश्चित है। इस विषयमे विस्तार भयसे अधिक प्रमाण देना व्यर्थ है। श्राद्ध तर्पणके निषेधमें अगणित प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। जो हो यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी है कि--चर्चासागरमे जो श्राद्ध तर्पणका विधान किया गया है वह बिलकुल जैनधर्मके विपरीत है। उसे कोई माननेके लिये तैयार नहीं। अब हम पं० मक्खनलालजीने श्राद्ध और तर्पणकी पुष्टिमें जो व्यर्थ लिख मारा है उसपर विचार करते हैं।

पृष्ठ नं १९७ में ' पितृतर्पणके अर्थके समझनेमें झांझरीजी

की नासमझी बतलाई है और लिखा है कि समान नाम रहने पर भी पितृतर्पण जैनधर्मके विरुद्ध नहीं। अन्य मनियोंने जो पितृतर्पणका अर्थ माना है वह धर्म विरुद्ध है और मिथ्यात्व है इत्यादि" यहांपर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि झांझरी जीने खूब समझ बूझकर पितृतर्पण और श्राद्धपर आपत्ति की है जिस ग्रंथसे चर्चासागरमे पितृतर्पणकी पुष्टिमे श्लोक लिया है उस ग्रन्थतक को देखा है। उस ग्रंथ त्रिवर्णाचारमे पितृतर्पण और श्राद्धकी रीति प्राय हिन्दूधर्मके अनुसार मानी हैं। इसलिये चर्चासागरमें किया हुआ श्राद्ध तर्पणका विधान प्रामाणिक नहीं समझा जा सकता। पृष्ट नं० ११६ में --

जन्मैकमात्मोधिगमोद्वितीयं भवेन्मुनीनां व्रतकर्मणा व अमो द्विजाः साधु भवंति तेषां संतर्पणं जैनजनः करोतु

अर्थात—एक जन्म तो गर्भसे निकलना माना जाता है दूसरा जन्म व्रतक्रिया और दीक्षा क्रिया द्वारा मुनियोंका माना जाता है। इसलिये ये मुनिगण दो जन्मवाले द्विज ब्राह्मण हैं यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। उन मुनिरूप द्विजोंका तर्पण जैनी लोग करते हैं। उन मुनियोंको दान देते हैं। पंडितजीने यह केवल तर्पण शब्दकी पुष्टिमें यशस्तिलक चपूका श्लोक उद्धृत किया है। परन्तु आपत्ति पितृ तर्पण शब्दपर है। सो पितृतर्पण शब्दका यह अर्थ नहीं किया गया है। यदि यहांपर यह लिखा रहता कि इसीको पितृतर्पण कहते हैं तो भी यह श्लोक इस प्रकरणमें उपयोगी होता परन्तु वैसा नहीं लिखा तर्पण शब्दको देखकर पितृ-

नर्पण समझ लेना यह बड़ी भारी भूल है। यहांपर इस श्लोकका प्रमाण रूपमे', उल्लेख करना निरर्थक है। पृष्ठ नं० १२० में पंडितजीने —

निर्निमित्तं न कोऽपीह जनः प्रायेण धर्मधीः,
अत. श्राद्धादिकाः प्रोक्ताः क्रियाः कुशलबुद्धिभिः।

इस श्लोकका यह अर्थ लिखकर कि "बिना निमित्तके कोई भी पुरुष धर्ममे बुद्धि नही लगाता हैं इसी लिये चतुर बुद्धिवालोने (आचार्योंने) श्रद्धादिक क्रियायें बतलाई हैं" यह श्राद्धकी पुष्टि की है। परन्तु यह अर्थ इस श्लोकका नहीं है किन्तु इस श्लोकका अर्थ यह है कि—"बिना कारण किसी मनुष्यकी प्रवृति धर्मार्थ नही होती इसलिये संसारकी हवा पहिचाननेवाले चालाक पुरुषोंने ये श्राद्ध आदि क्रियायें चलाई हैं, वास्तवमें ये क्रियायें मिथ्या हैं।" यशस्तिलक चंपूमें यह श्लोक उस प्रकरणका है जहांपर महाराज यशोधरकी माता वैदिक धर्मको मानती थी और महाराज यशोधर दि० जैन धर्मावलम्बी थे। माताने अपने पुत्रको वैदिक धर्म स्वीकार करनेके लिये श्राद्ध आदि कामोको प्रशंसा की है, वहांपर महाराज यशोधरने मर्त्येषु चेत्सद्मसु नाकिनां वा इत्यादि दो श्लोकोसे श्राद्धका खंडन किया हैं वही पर महाराज यशोधरके ये वचन है कि बिना कारण लोग धर्म नहीं करते इसलिये धर्मके बहानेसे स्वार्थी लोगोने श्राद्धादि क्रियायें जारी कर दी हैं। इससे महाराज यशोधरने श्राद्ध क्रियाको ढोंग बताकर उसका खंडन किया है। विद्वान पाठक वहांका प्रकरण निकालकर पढ़ सकते

है। पं० मक्खनलालजीने कुशलबुद्धिभिः का अर्थ आचार्य किया है हमें नही मालूम यह अर्थ उन्होंने कहांसे कर डाला ? इस श्लोक-की श्रुतसागर सूरिकृत संस्कृत टीका भी हैं उसमें भी इसका अर्थ आचार्य नहिं किया। टीकाकार भला कुशलबुद्धि शब्दका अर्थ आचार्य कैसे कर सकते थे क्योंकि श्राद्ध क्रियाका किसी भी प्राचीन ग्रंथमे विधान नहीं। पं० मक्खनलालजीने यहापर बहुत वडा अनर्थ किया है। यहापर तो श्रुतसागर सूरिसे भी पंडितजीने अपनेको विशेष विद्वान मान लिया है क्योंकि जो अर्थ श्रुतसागर सूरिको न सूझा वह पं० मक्खनलालजीने सुझा दिया है। उस पडिताईके लिये धिक्कार है जो मिथ्यात्वकी वाते जारी करनेके लिये खर्च की जाती हैं। श्लोकका अर्थ न समझकर यशस्ति-लक चंपूमें श्राद्धका विधान वतलाकर पं० मक्खनलालजीने यहां वहुत बडा धोखा दिया है। इसके ऊपर 'येनापि केनापि मि-षेण मान्यैः' इत्यादि श्लोक और हैं उससे यह बात विल्कुल स्पष्ट है कि स्वार्थी लोगोंने श्राद्ध आदि वातें चलाई हैं। वे बातें जैन धर्मकी नहीं। परन्तु कोई ग्रंथके अर्थपर विचार करे तब न। अस्तु। पृष्ट न० १२१ में—

"सुगंधिजलसंपूर्णं पात्रमुद्धृत्य भामिनी इत्यादि तीन श्लोक पद्मपुराणके लिखकर यह स्पष्ट किया है कि मुनियोको दान देना ही श्राद्ध कहा जाता है। वहांपर श्राद्ध शब्दके आ-जानेसे पंडितजीने उसे श्राद्ध वतला दिया है। तथा "श्रद्धयान्न

प्रदान नु सद्भ्य: श्राद्धमितीर्यते।" "श्रद्धया दीयते दानं श्राद्ध-मित्यभिधायते" अर्थात् श्रद्धापूर्वक दान देना ही श्राद्ध है। इस प्रकार श्राद्धका अर्थ बतलाया है। परन्तु इस कथनसे श्राद्धका पुष्टि नहीं होता। क्योंकि इसे जैन शास्त्रमें आहार दान कहा है वह भी श्रद्धापूर्वक दिया जाता है इसलिये उसे श्राद्ध कह दिया जाता है। चर्चासागरमे जो पितृतर्पण वा श्राद्ध बतलाया है उस श्राद्धकी पुष्टि इससे नहीं होती। आप "चर्चासागरके अनुसार श्राद्ध पितृतर्पणको सिद्ध कर रहे हैं कि मुनियोंका आहार दान बता रहे हैं? समझमे नहीं आता। यदि इतना ही आप कह दे कि 'चर्चासागरका पितृतर्पण श्राद्ध त्रिवर्णाचारके अनुसार है वह ठीक नहीं। श्राद्धका तो अर्थ यह है. तो कोई विवाद ही न रहे परन्तु वहांके विषयको छिपाकर यह छल किया जा रहा है यह बुरा है। यदि पंडितजीके कहे अनुसार मुनिदानको ही हम श्राद्ध मान ले तब भी तो ठीक नहीं होता क्योंकि चर्चासागरमे जहां पितृतर्पणका उल्लेख किया है वहांपर तिलक लगाकर पितृतर्पण करना चाहिये यह लिखा है। अब यहां जब पण्डितजी मुनियोके आहारदानको पितृतर्पण-वा श्राद्ध बतला रहे हैं तब कसो भी शास्त्रमे यह बात देखनेमें नहीं आई कि मुनियोको आहारदान तिलक लगाकर करना चाहिये। आदिनाथो राजा श्रेयांसने भगवान आदिनाथको आहार-दान दिया है वहांपर आदिपुराणमें यह उल्लेख नहीं कि उन्होंने तिलक लगाकर दिया था। और भी बहुतसी जगह मुनियोंके

आहारका प्रकरण आया है परन्तु कही भी तिलक देकर आहारदानका जिक्र नहीं आया। महाराज पंडितजी ! श्राद्धका अर्थ यदि आप मुनिदान करते हैं तो मुनिदानके समय तिलकका विधान कहा लिखा है ? यह भी तो स्पष्ट करना था। चर्चासागर-का विषय देखकर आपको कलम उठानी थी आप कितनी भी बात उडाइये पकडनेवाला तो पकडेगा ही। यदि पितृतर्पणके अर्थ लिखते समय आपको यह ख्याल रहता कि यहा तिलकके वर्णनमे यह बात है तो आप श्राद्ध शब्दके अर्थके लिये प्रयत्न ही नही करते। चर्चासागरको किस २ पोलको आप दबायेगे ! पृष्ट न० १२२ मे

नित्यं सामयिकादोनि इत्यादि धर्मसंग्रहश्रावकाचारका श्लोक उद्धृत किया हैं इसमे समयी श्रावक साधु आदि पाच पात्रोको दान आदिसे सतुष्ट करना चाहिये यह लिखा है इसमे पंच पात्राणि तर्पयेत् अर्थात पाचो पात्रोंको संतुष्ट करना चाहिये, इस शब्दको देखकर ही पडितजीने पचपात्र तर्पणको ही पितृतर्पण मान लिया है। धन्यवाद है। क्या पात्रतर्पण यहापर तर्पण शब्द देख-कर आपने उसे ही पितृतर्पण समझ लिया है ? यदि यह व्यवस्था मान ली जायगी तो जहापर मिथ्याज्ञान लिखा हो वहा ज्ञानशब्द देखकर उसे भी सम्यग्ज्ञान समझ लेना चाहिये। जहा मिथ्याद-र्शन वा मिथ्या चारित्र लिखा हो वहा दर्शन और चारित्रको देख-कर सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र समझ लेना चाहिये क्योंकि पात्र और पितृ शब्दोंके अर्थोंमे जमीन आकाशका फरक हैं उनको

भी जब आपने एक मान लिया तब सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान आदि को एक माननेमें आपके मतानुसार कोई दोष नहीं आ सकता। बात यह है कि पितृतर्पण शब्द जैनागमका नहीं है न उसकी क्रियाका कोई विधान है। आप उसे पात्रतर्पण आदि अर्थमें घसीट कर सिद्ध करना चाहते हैं यह आपका प्रयास व्यर्थ है। आपको चर्चासागरके अनुसार पितृतर्पण, श्राद्धकी सिद्धि करनी चाहिये सो आपसे बन नहीं सकता क्योंकि वैसा विधान जैन शास्त्रोंमें नहीं हो सकता इसलिये आपको इस विषयमें चुप रह जाना ही ठीक था। तैरना न जाननेवाला मनुष्य बिना सोचे समझे हाथ पैर फेकने मात्रसे दरियाव पार नहीं कर सकता। समझ सोचकर तैरनेवाला ही पार कर सकता है। पृष्ठ नं० १२३ में आपने लिखा है—

"ब्रह्मा, विष्णु, महादेवको भी अकलंक देवने नमस्कार किया है परन्तु उनका स्वरूप और ही माना है इसी प्रकार श्राद्धके विषय को भी जानना चाहिये।" इसका उत्तर यह है कि नामका भेद रहते भी उनके स्वरूपमें तो भेद नहीं माना गया जो भगवान जिनेंद्रका स्वरूप है उसी स्वरूपसे उनकी स्तुति की गई है किन्तु परमतमें जो ब्रह्मा बुद्ध आदिका स्वरूप माना है उस रूपसे उनकी स्तुति नहीं की। यहां चर्चासागरमें तो जो परमतमे पितृ-तर्पण श्राद्ध वगैरहका स्वरूप माना है प्रायः वैसा ही मान लिया है। यह विषय त्रिवर्णाचारको खोलकर देखा जा सकता है इसलिये आपका यह लिखना ठीक नहीं।

आपने आचार्य सोमदेवको विक्रम सं० ८८१ मे बतला दिया है यह आपकी बड़ी भारी ऐतिहासिक भूल है। यह शक संवत है। इतिहासका भी कुछ ज्ञान रखना चाहिये। इतिहासकी जानकारी न रहनेसे रत्नमालाके कर्ता भट्टारक शिवकोटिको आपने स्वामी समंत भद्राचार्यके शिष्य भगवती आराधनाके कर्ता शिवकोटि करार दिया है। अकलंक प्रतिष्ठा पाठ नेमिचंद प्रतिष्ठा पाठोंके कर्ताओंको आपने राजवार्तिकके कर्ता भगवान अकलंक देव और गोम्मटसारके कर्ता भगवान नेमिचंद सिद्धात चक्रवर्ती लिख मारा है। यद्यपि इनका इतिहास प्रगट हो चुका हैं परन्तु उसको न जानकर आपने बड़ी भारी भूल की है। इसके सिवाय आपने झाझरीजी और उनके साथियोको गालिया देकर खूब पुष्प वर्षा की है सो आपकी मर्जी है। जब ठीक उत्तर नहीं बनता तो यही सौगात भेंट की जाती है। लोग अपने भोलेपनसे न समझें पर आपका हृदय तो यह समझ ही रहा है कि चर्चासागरकी बातोंका ठीक समर्थन मुझसे नहीं हो रहा है, तब आपका गालियां देना ठीक ही है।

सारांश

चर्चासागरमें तिलक लगानेके प्रकरणमें जो पितृतर्पणका विधान किया है वह त्रिवर्णाचारके आधारसे किया है। त्रिवर्णाचारमें हिंदू धर्मकी नकल कर उसका वर्णन किया है इसलिये वह जैन सिद्धांतानुसार नहीं हो सकता। पं० मक्खनलालजी

जब चर्चासागरकी बात पुष्ट करने बैठे हैं तब उन्हे चर्चासागरमे माने हुये पितृतर्पणका ही मंडन करना था परंतु उन्होंने उस विषयको बिलकुल ही छिपा दिया। मुनिदान वा पात्रतर्पणको ही उन्होंने श्राद्ध तर्पण बता डाला जिसको कि किसी भी जैनाचार्यने श्राद्ध और पितृतर्पणके नामसे नहीं पुकारा तथा जिस पर किसी प्रकारकी आपत्ति भी न था इसलिये पं० मक्खनलालजीने श्राद्ध और तर्पणके विषयमे जो भी लिखा है सब व्यर्थ है। उन्होंने बिना समझे कलम उठाकर अनेक पृष्ट काले कर डाले हैं। चर्चा सागरके अनुसार श्राद्ध और पितृतर्पणका जैनशास्त्रोंमे कहीं भी विधान नहीं। उनका तो बड़े जोरोंसे खंडन किया है जैसा कि ऊपर अनेक प्रमाण देकर खुलासा कर दिया है। पाठक स्वयं इस विषयकी जांच कर सकते हैं।

देवोंके मांसाहारी बतानेपर विचार

जेन सिद्धांतमे नोकर्माहार १ कर्माहार २ कवलाहार ३ लेपाहार ४ उज्ञाहार ५ और मानसाहार ये छह भेद आहारके माने हैं। इन छहों प्रकारके आहारोंमेंसे देवमात्रके मानसाहार माना है। मनमें इच्छा होते ही उनके कण्ठसे अमृत झर जाता हैं उसी से वे तृप्त हो जाते हैं। मास आदि कवलाहार उनके नही माना गया। इस विषयको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेव आहारो।
उज्जमणो विय कमसो आहारो छव्विहो भणियो
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णिरये य मानसो अमरे।
णरपसुकवलाहारो पंखी उज्जो णरे लेओ।

अर्थात्—नोकर्माहार कर्माहार कवलाहार लेपाहार उज्ञाहार और मानसाहार इस प्रकार आहारके छह भेद माने हैं। इनमे तीर्थंकरों नोकर्माहार होता है। नारकीयोंके कर्माहार, देवोंके मानसिक आहार मनुष्य और पशुओंके कवलाहार, पक्षियोंके उज्ञाहार और मनुष्योंके लेपाहार होता है। इस आगम प्रमाणके बलसे देवोंके; सिवाय मानसीक आहारके और दूसरा आहार नहीं माना

जा सकता यदि दूसरा आहार माना जायगा तो वह शास्त्र वि-रुद्ध कहा जायगा। यदि देवोंको मांसाहारी बता दिया जाय तो जैन शास्त्रोंके अनुसार वह देवोंका अवर्णवाद माना जा-यगा क्योंकि—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य अ० ६

अर्थात्—केवलियोंका अवर्णवाद शास्त्रका अवर्णवाद संघका अवर्णवाद धर्मका अवर्णवाद और देवोंका अवर्णवाद ये दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं। इस सूत्रकी व्याख्यामें सर्वार्थ सिद्धिके कर्ता आचार्य पूज्यपाद राजवार्तिकके कर्ता भगवान भट्टाकलंक देव और श्लोकवार्तिकके कर्ता स्वामी विद्यानन्दने देवोंको मांसाहारी बताने पर देवोंका अवर्णवाद बतलाया है। इन पूज्य आचार्योंके आज्ञानुसार देवोंको कभी मांसाहारी नहीं कहा जा सकता। परंतु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि चर्चासागर के कर्ता पांडे चम्पालालजीने देवोंको मांसाहारी लिख मारा है और इस बातकी पुष्टिमें श्रीआदिपुराणजीका श्लोक उद्धृत कर प्रमाण दिया है। यह उनने बहुत ही अनर्थ किया है क्योंकि श्री-आदिपुराणके श्लोकका वह अर्थ नहीं जो चर्चासागरके कर्ताने समझ लिया है श्रीआदिपुराणका वह श्लोक इस प्रकार है—

विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः
क्रूरास्तु देवता हेया येषां स्याद्वृत्तिरामिषैः।

इस श्लोकका अर्थ यह है कि विश्वेश्वर आदि देव शांतिके

कारण हैं। इनसे भिन्न देव जिनको कि लोगोंने मांसाहारी कल्पना कर रक्खा है वे क्रूर देव हैं वे त्यागने योग्य हैं। यहांपर स्याद्वृत्तिरामिषैः इस वाक्यमें 'स्यात्' क्रियाका प्रयोग ग्रंथकारने किया है। उसका अर्थ ही यह है कि देव मांसाहारी नहीं हैं परन्तु स्वार्थी लोगोंने मांस खानेकी लोलुपतासे उन्हें मांसाहारी जबरन मान रक्खा है। ऐसे देव त्यागने योग्य हैं। यहांपर देवोंको मांसाहारी नहीं बतलाया। मामूली विद्वान भी जब देवों को मांसाहारी नहीं कह सकता तब भगवज्जिनसेनाचार्य ऐसा कैसे लिख सकते थे? चर्चासागरमें जो मांसाहारी देवोंको लिखा गया है वह ना समझीसे अर्थका अनर्थ किया गया है। इसी बातपर भाई रतनलालजी झांझरीजीने आपत्ति की है। यदि चर्चासागरमें यह लिखा होता कि देव मांसाहारी नहीं परन्तु स्वार्थी लोगोंने देवोंको मांसाहारी मान लिया हैं उन्हें त्याग देना चाहिये तो कोई आपत्ति ही नहीं उठ सकती थी। हम यहां चर्चासागरके ज्योंके त्यों शब्द उद्धृत किये देते हैं—

विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः।
क्रूरास्तु देवता हेया येषां स्याद्वृत्तिरामिषैः॥

इसका अर्थ चर्चासागरमें यह लिखा है—"तीर्थंकरोंके सिवाय विश्वेश्वरादिक और भी देव हैं जो शांतिके करनेवाले हैं। इन विश्वेश्वरादिकके सिवाय मांसाहारी क्रूर देव और भी हैं सो उनका त्याग कर देना चाहिये अर्थात् उनको नमस्कार पूजन आदि नहीं करना चाहिये।" चर्चासागरमें 'मांसाहारी क्रूर देव और

भी हैं इन शब्दोंसे देवोंको स्पष्ट मांसाहारी करार दिया है यह बिलकुल स्पष्ट नहीं किया कि स्वार्थी लोग उन्हें मांसाहारी मानते हैं पर वे हैं नहीं क्योंकि उनके मांसका आहार संभव नहीं, तब कैसे कहा जा सकता है कि चर्चासागरमे देवोंको मांसाहारी नहीं कहा गया। यह बात अवश्य धर्मविरुद्ध लिखी गई है और आदिपुराणका प्रमाण देकर जो इसकी पुष्टि की-हैं वह बहुत बड़ा धोखा दिया है। ऊपर गाथाओंसे हम देवोंमें केवल मानसिक आहार सिद्ध कर चुके हैं। सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोकवार्तिकमें अवर्णवाद बताकर देवोंमें मांसके आहारका निषेध किया है वह इस प्रकार है—

सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः ॥

सर्वार्थसिधि १६३

अर्थात्—देवोंको मदिरा और मांसका खानेवाला कहना उनका अवर्णवाद है। अर्थात् मानसीक आहार होनेसे देव मद्य और मांसका सेवन नहीं कर सकते। जो उन्हें मद्य मांसका सेवन करनेवाला बताते हैं वे उनका अवर्णवाद निन्दा करते हैं। और भी प्रमाण—

भट्टाकलंक देव विरचित राजवार्तिक जैन सिद्धांतका बहुत बड़ा ग्रन्थ है उसमें इस प्रकार लिखा है—

सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं, देवावर्णवादः। सुरां मांसं चोपसेवंते देवा अहल्यादिष्वासक्तचेतसः इत्याद्याघोषणं देवावर्णवादः। पृष्ट २६२

अर्थात—अहल्या आदिमे आसक्त चित्त देवोंको मद्य और मासका सेवन करनेवाला वताना देवोका अवर्णवाद हैं।

और भी प्रमाण

जोलोग देवोको मदिरा पीनेवाले और मास खानेवाले बतलाते हैं उनका कहना सिद्धान्तके विरुद्ध है।

प्रातः स्मरणीय स्वामी विद्यानन्द विरचित श्लोक वार्तिक सिद्धातका एक महान ग्रंथ है उसमें इस प्रकार लिखा है—

सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवेष्ववर्णवादो वेदितव्य ।

पृष्ठ ४५३

अर्थात मदिरा और मासका सेवन करना देवोंका अवर्णवाद समझना चाहिये । इनमें सिवाय मानसिक आहारके और किसी भी प्रकारके आहारका विधान नहीं। देव मासाहारी नही यह सिद्धान्तोक्त वात है। इस सिद्धान्तको पुष्ट करनेवाले अगणित प्रमाण हैं। देवोंको मासाहारी कहना सिद्धात विरुद्ध कथन करना है। चर्चासागरमे देवोंको मांसाहारी कहा है । वह सिद्धात विरुद्ध कथन किया गया है। अब हम प० मक्खनलालजीके शब्दोंपर विचार करते हैं।

पृष्ठ नं० १२५ में पंडितजीने चर्चासागरकी पंक्तिया उद्धृत की हैं। इन पंक्तियोंके आधारसे पंडितजी लिखते हैं "चर्चासागरके कर्त्ताने कुदेवोंकी पूजाका निषेध किया है" इत्यादि । इस विषयमें इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि कुदेव और सच्चे देवोंके विषयमें तो यहा कोई आपत्ति है ही नही। यहां तो देवोंको मांसाहरी बताने पर आपत्ति है इसलिये

यहांपर यह लिखना आपका व्यर्थ है । पृ० नं० १२६ में आपने झाँझरीके शब्दोंको उद्धृत किया है और लिखा है कि "भगवज्जिन-सेनाचार्यके वचनोंके आधारसे पांडे चंपालालजीने लिखा है" इसलिये उनको बुरा भला कहना ठीक नही है।" इसके उत्तरमे यह निवेदन है कि पांडे चंपालालजीने जिस आदिपुराणके श्लोकको उद्धृत किया है उसका अर्थ बिलकुल उलटा समझकर देवोको मांसाहारी बतला दिया है। जब कि देवोंमे मांसाहार आदि कवलाहारका सर्वथा निषेध है तब भगवज्जिनसेनाचार्य उन्हे कैसे मांसाहारी कह सकते हैं ? यदि चर्चासागरके अर्थको आप भी पुष्ट करते हैं तो कहना होगा आप भी उस अर्थके समझनेमे गलती कर रहे हैं और सिद्धात विरुद्ध वातका पोषण कर रहे हैं। पृष्ठ नं० १२७ मे आपने विश्वेश्वरादयो ज्ञेयाः इत्यादि श्लोक भी आदि पुराणका लिखा है। आपने भी 'येषां स्याद्वृत्तिरामिषैः' इस वाक्यका अर्थ 'जिनकी वृत्ति मांसके द्वारा होती है', यह लिखा हैं। आपका अर्थ भी चर्चासागरके अर्थसे मिलता है इस लिये यही कहना होगा कि आप भी श्लोकका अर्थ नही समझ रहे हैं। आपके किये अर्थसे भी देवोंमे मांसाहारकी सिद्धि होती है जो कि सिद्धान विरुद्ध होनेसे भगवज्जिनसेनाचार्यके वचनोंका अर्थ नही हो सकता। कृपानिधान ! उस वाक्यका अर्थ यह हैं कि 'जिनकी आजीविका लोगोंने मांसके द्वारा मान रक्खी है।' क्योंकि इसी अर्थसे यह वात स्पष्ट होती है कि देवोकी वृत्ति मांस खानेकी नहीं परन्तु स्वार्थी लोगोंने उनकी वैसी वृत्ति कायम कर रक्खी

है। पांडे चपालालजी संस्कृतके विद्वान न थे। सिद्धांतकी बातों-की भी विशेष जानकारी नहीं रखते थे उनके द्वारा गलती होजाना स्वाभाविक है। आप तो लोगोंकी दृष्टिमें विद्वान माने जाते हो। सिद्धांत विद्यालयका अध्यापकपद भी आपको प्राप्त है। आपको तो ऐसी गलती नहीं करनी चाहिये। शब्दोंकी शक्ति जाननेकी कुछ तो योग्यता रखनी चाहिये। आपने मास शब्दका अर्थ कोष-का प्रमाण देकर लिखा है सो इसके लिये कोषकी कोई आवश्य-कता न थी। मास शब्दका अर्थ प्राय लोग जानते हैं। शायद लिखते समय आपको कोषका श्लोक याद आ गया होगा सो लिख दिया जान पड़ता है। पृष्ठ नं० १२८ में आपने—

विद्वज्जन बोधककी कुछ पंक्तिया लिखी हैं वे बहुत ही उप-योगी हैं। उन्होंने सिद्धांतानुसार बिलकुल खुलासा कर दिया है। यदि चर्चासागरके कर्ता ऐसा खुलासा कर देते तो यह झगडा ही क्यों खडा होता? विद्वज्जन बोधकसे देवोंमें मांसाहारका निषेध देख कर भी आपने श्री भगवज्जिनसेनाचार्यके वचनोंसे उन्हें मांसाहारी बता दिया है यह महान आश्चर्य है। पृष्ट नं० १२९ मे आपने लिखा है कि "क्या भगवज्जिनसेनाचार्य इतना भी नही जानते थे कि देवोंके मानसिक आहारके सिवाय कोई आहार नही होता।" इसका उत्तर यह है कि—वे तो सब कुछ जानते थे और सिद्धांतके पूर्ण ज्ञाता थे परन्तु पांडे चंपालालजी और आप तो उनके वचनोंको बदला कर रहे हैं। और उनके वचनोंका अर्थका अनर्थ कर सिद्धान्त विरुद्ध बातकी पुष्टि करना चाहते

हैं। इसी पृष्ठमें आपने लिखा है कि "भगवज्जिनसेनाचार्यने पर-देवोंकी अपेक्षासे ही कुदेवोंको मांसाहारी बतलाया है क्योंकि लोगोंने चंडी मुंडी आदि कुदेवोंको मांसाहारी मान रक्खा है।" इसका उत्तर यह है कि भगवज्जिनसेनाचार्यने तो यही बतलाया है परन्तु चर्चासागरके कर्ता तो इस बातको नहीं समझ सके। उन्होंने तो श्लोकका विपरीत अर्थ कर सिद्धांत पर ही पानी फेर दिया। झांझरीजीने "इससे देवी देवताओंके सामने बलि चढ़ानेवालेंको बातोंकी पुष्टि होती है" यह बात लिखी है। पंडितजीने इस बातको नासमझी ठहराया है और लिखा है कि "आचार्य महाराजके कथनसे बलि चढ़ानेवालोंकी पुष्टि नही होती है किन्तु पूरा २ खंडन होता हैं" इत्यादि इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि आचार्य महाराज भगवज्जिनसेनाचार्यके वचनोंसे बलिदानकी पुष्टि होती है यह झांझरीजीने नहीं लिखा है किन्तु चर्चासागरमें जो इस श्लोकका विपरीत अर्थ कर देवोंको मांसा-हारी लिख मारा है उससे बलिदानकी पुष्टि अवश्य होती हैं क्योंकि लोग कह सकते हैं कि जैन सिद्धांतमे भी देवोंको मांसा-हारी बताया है। आपने जो यह लिखा हैं कि "झांझरीजीने भगव-ज्जिनसेनाचार्यको कुवचन लिखे हैं" यह आपका भोली समाजको भड़कानेका निष्फल प्रयत्न है। भगवज्जिनसेनाचार्यसे यहां क्या लेन देन? यहा तो चर्चासागरमें देवोंको मांसाहारी कह दिया है इस सिद्धांत विरुद्ध बात पर आपत्ति की गयी है। पृष्ठ न०

१३० में—

प्रत्यवासोपकरणानि इत्यादि यशस्तिलक चपूकी पंक्तिया उद्धृत कर देवोंको मांसहारी सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। यह भी आपका सिद्धांत विरुद्ध लिखना है वहांपर भी यही कहा है कि परमतमें चंडमारी देवको मांसहारी कहा है और उसके भोजनके वर्तन मनुष्योंकी खोपड़ीसे बने माने हैं। इसमें यह नहीं कहा कि वह मांसाहारी है। प्रकरण पर दृष्टि डालकर आपको लिखना चाहिये। आपने लिखा है "सौमदेव सूरिने चंडामारी देवताको मांसाहारी लिखा है सो क्या वे भी जैन सिदान्त नहीं समझते थे ?" इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि वे तो जैन सिद्धांत के आचार्य ही थे परन्तु चर्चासागरके कर्ता और उसके पक्षपाती आप लोग तो उस सिद्धान्तकी निर्मलता नष्ट किये देते हैं। नासमझीसे अर्थका अनर्थ कर लोगोंको धोखेमें डालते हैं। अस्तु–

यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी गई कि भवनवासी व्यंतर आदि देवोंके, सिवाय मानसिक आहारके मांसाहार आदि कवलाहार बन नहीं सकते। चर्चासागरमें जो देवोंको मांसीहारी कहा गया है वह सिद्धान्त विरुद्ध है। तथा यह जो लिखा है कि आदि पुराणमें देवोंको मांसाहारी बतलाया है यह आदि-पुराणके श्लोकके अर्थको न समझनेके कारण लिखा गया है। इसलिये चर्चासागरमें जो देवोंको मांसाहारी कहा है वह प्रामाणिक नहीं। इस विषयमें पं० मक्खनलालजीको इतना ही लिखना उचित था कि परमतकी अपेक्षा देवोंको मांसाहारी बतलाया गया है। जैन सिद्धान्तानुसार उनके मांसाहार नहीं

वन सकता तो इतनेसे ही लोगोंको सन्तोष हो जाता परन्तु अन्तमें यही बात माननेपर भी उन्होंने कई पृष्ट व्यर्थ काले कर डाले हैं यह ठीक नहीं किया। स्पष्ट बात न कहना यह आदत-की लाचारी है। तथास्तु।

भूमिदान गोदान आदिपर विचार!

जिस दानके देनेसे संयमकी रक्षा हो। धर्मकी रक्षा हो वही दान प्रशस्त दान माना गया है। शास्त्रोंमें आहार औषध शास्त्र और अभयके भेदसे दान चार प्रकारके माने गये हैं और उत्तम मध्यम और जघन्य इन तीनों प्रकारके पात्रोंके लिये उनकी व्यवस्था और हीनाधिक फलका अच्छी तरह वर्णन है। दुखी और भूखोंके लिये करुणा दानकी भी व्यवस्था स्वीकार की गई है। भूमिदान गौदान आदि दानोंसे अनेक जीवोंका घात होता है। विषय कषायोंकी पुष्टि होती है इसलिये इन दानोंको कुदान वा मिथ्यादान माना है। आदिपुराणमें दानके प्रकरणमें समदत्ति सकलदत्ति आदिका भी उल्लेख किया है परन्तु वहांपर जो दिया जाता है वह संयमकी रक्षाकी भावनासे वा धर्मरक्षाकी कामनासे दिया जाना है यह नहीं लिखा। वहांपर तो अपने कुटुम्बी जाति-वाले वा इष्ट मित्रोंको सन्तोषके लिये चीजें दी जाती हैं। गृहस्थ

को ऐसा व्यवहार करना पडता है। यदि कोई व्यक्ति राजा महाराजा है तो उसे अपनी जातिवाले वा धर्मवाले इष्ट मित्रोंके लिये धन सवारी मकान महल आदि देना होता है। जातिवालोंके लिये कन्या देनी पडती हैं। उसके दहेजमें गाय भैंस दौलत आदि देना पडता है। परन्तु धर्मसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। यदि गौदान कन्यादान आदिको धार्मिक दान मान लिया जायगा तो सच्चे दानकी प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी। लोग मान बड़ाई के लिये गायें दान देने लगेंगे। अपनी कन्या और दूसरोंकी कन्याओं का भी दान करनेमें धर्म माना जायगा। जैसा कि हिन्दूधर्ममे माना जाता है इस रूपसे जैन सिद्धान्तमें जो दानका खास उद्देश्य बताया है वह उद्देश्य कायम नहीं रह सकता। यदि किसी महानुभावने समदत्तिकी भावनासे किसी निज जातिवाले वा निज धर्मवालेको गाय वा सुवर्ण दे भी दिया तो वह दान नहीं कहा जाता। क्योंकि देनेवाला किसीको आवश्यकता पडनेपर लोहा काठ कपडा आदि भी देता है परन्तु वह लोहा कपड़ा काठ आदिका दान, दान नहीं कहा जाता। वहां तो किसी खास व्यक्तिकी आवश्यकताकी पूर्ति कर दी जाती है। यदि कोई धनी अपने इष्टोंको धन आदि दे तो वह अपने बड़प्पनके लिये वैसा करता है। वह दान नहीं कहा जाता। समदत्ति आदिमे कुछ पदार्थ दिये जाते है इसलिये देना रूप क्रियासे उसे दान कह दिया है। परन्तु वह धार्मिक दान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वहां संयम वा धर्मकी रक्षा नही है। वहां विषय कषायका पोषण

है। चर्चासागरमे "गाय आदिका दान मिथ्या दृष्टियोंको देनेसे कुदान माना है परन्तु सम्यग्दृष्टि आदि ब्राह्मणोको देनेसे सुदान कहा है।" यह बात ठीक नहीं। गाय सोना आदिका दान किसीको भी देनेपर सुदान नही हो सकता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ब्राह्मणको देनेपर भी इससे विषय कषायका पोषण ही होगा। सजातीय इष्ट मित्रोंके संतोषके लिये वहांपर वे चीजें दी जातीं हैं इसलिये वह दान नही कहा जा सकता। पुत्र आदिके जन्मोत्सवके समय याचकोको हाथी घोड़े सोना चांदी आदि बहुतसे पदार्थ दिये जाते हैं परन्तु वह दान नही। खुशीमें दौलतका लुटाना है। गरीब लोग अपनो मनोरथ सिद्धि जान उसे दान, कहकर पुकारते हैं परन्तु हिंसाका कारण और कषायका पोषक वह दान, दान नही कहा जाता। गोदान भूमिदान कन्यादान इनको दूसरे मतोंमें दान माना गया है। उनको देखा-देखी यह कहना कि ये दान हमारे यहां भी हैं बड़ी भारी भूल है। फिर तो पलंग गद्दा तकिया बीजना आदिको भी गोदान कन्यादानके समान दान कहना चाहिये क्योंकि ये भी तो खुशीमे दिए जाते हैं पर इनकी पुष्टि नहीं की गई। बात भी ठीक है जब दूसरे मतोंमें इनका दानः दान नही माना गया तब चर्चासागरमे इनकी पुष्टि क्यों की जाती? दूसरे मतोंमे गाय कन्या आदि दानोंको पवित्र माना गया है इसलिये चर्चासागरमें गोदान कन्यादानको दान मान लिया गया हैं। वहां तो परमतकी बातोंकी नकल करना ही मुख्य समझा गया है। चाहे वह जैनधर्मके विरुद्ध ही क्यों न हो। भाई रतनलालजी झांझरीकी, समान जाति वा

धर्मवाले इष्ट मित्रोंको गाय भैंस हाथी घोडा आदि कुछ भी दिया जाय इस विषयमे कोई आपत्ति नहीं है। मात्र आपत्ति उनकी इसी विषयपर है कि "गोदान कन्यादान आदिको दान कहनेसे दानकी प्रवृत्तिमें अड़चन हो जायगी। हिन्दुओंकी देखा देखी लोग इन दानोंको करने लगेंगे और उसमें धर्म मानने लगेंगे। प्राचीन शास्त्रोंमे आहार औषध आदि चारही दान माने हैं गोदान आदिको धार्मिक दान नही माना गया।" हम यहापर चर्चासागर और झाझरीजी दोनोंके शब्द उधृत किए देते हैं पाठक स्वय विचार कर लेंगे।

चर्चासागरके शब्द

"कन्या हाथी सुवर्ण घोड़ा कपला (गौ) दासी तिल रथ भूमि घर ये दश प्रकारके दान हैं। ये दान परमतमें मिथ्या दृष्टि ब्राह्मणोको देनेके लिये बतलाये हैं यह बात महा निंदित है। इन्हो दानोंका वर्णन जैन शास्त्रोंमें भी है किंतु उनके देनेका अभिप्राय जुदा है———तीनो पात्रोंमेंसे जघन्य पात्रोंको योग्या योग्य विचारकर ऊपर लिखे दस प्रकारके दान देने चाहिये। इत्यादि" चर्चासागरके इन शब्दोंसे सिद्ध है कि गोदान आदिको दान माना है। यद्यपि चर्चासागरमें जैनधर्मी जघन्य पात्रको इनको देनेकी आज्ञा दी है तथापि दान तो इन्हें माना ही है। जघ-न्यपात्रोंके संतोषके लिये ये चीजें दी जाती हैं परंतु इनका देना दान नहीं कहा जाता है। गोदान और कन्यादान आदिको दान मानना जैनधर्मके विरुद्ध है।

झांझरीजीके शब्द

चर्चा १८४—"ब्राह्मणोंको गोदान देना चाहिये" जघन्य पात्रोंको दस प्रकारका दान देना चाहिये भूमिदान गोदान कन्यादान सुवर्णदान वास्तु (मकानदान), रथदान हाथी दान प्रपाशाला (प्याऊ) दान वस्त्रदान उपकरण दान । मंदिरोंमें गोदान देना चाहिये । खूब ! अभीतक तो आहार औषध शास्त्र और अभयदान ही सुने जाते थे, अब ये गोदान आदि नवीन दान कहांसे निकल पड़े । क्या लेखकने जैनियोंको पूरा वैष्णव बनाने का ही सङ्कल्प कर डाला है । पितृतर्पण श्राद्ध गौदान भूमिदान जाप्य समयमे आचमन और प्राणायाम, गोबरादिसे भगवानकी पूजा आदिका विधान स्पष्ट ही इस बातकी सूचना देता है ।" ये शब्द झांझरीजीके हैं ।समदत्तिकी भावनासे हाथी घोड़ा सोना चांदी गाय कन्या आदि जो भी समानजातीय वा इष्ट मित्रोंको चीजें दी जाती हैं उसका यहां झांझरीजीने कोई विरोध नही किया गृहस्थ पुरुषोंको व्यवहारमें ऐसा करना ही पड़ता है । गृहस्था-श्रमके अन्दर ऐसा विना किये काम नहीं चल सकता । गोदान आदि धार्मिक दान नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनसे संयमकी रक्षा नहीं होती किंतु इनके देनेमें अनेक जीवोंका विघात होता है—विषय कषायका पोषण होता है चर्चासागरके कर्ताने इन्हें आहार दान आदिके समान ही प्रशस्त दान मान रखा है यह भूल है । चर्चासागरमें मंदिरके लिये गौ दानका विधान किया है और उसका उद्देश्य यह बतलाया है कि पञ्चामृत अभिषेकके लिये

गौओका दान मंदिरोंमें उपयोगी है इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि मंदिरोमें आजतक गौदानकी व्यवस्था कही भी देखनेमें नही आई। पञ्चामृतभिषेकके अभिलाषी गृहस्थ अपने घरसे शुद्ध गोरस लाकर सानद अभिषेक कर सकते हैं। क्या गृहस्थोंसे इतना भी नही बन सकता। यदि मंदिरोंके लिये गौदान शास्त्रोक्त होता तो कहीं भी किसी मंदिरमें उनके बधनेकी जगह भी तो दीख पडती। सो कहीं भी नही देखी गई, इसलिये मानना होगा कि गोदान आदिकी व्यवस्था हिंदुओंकी देखा देखी है, और उनके मतमें माने हुए दानकी नकल करनेकी चेष्टा की गई है। जो हो समदत्ति प्रकरणमें जो समान जातीय इष्ट मित्रोंको गोदान कन्यादान आदिका उल्लेख किया गया है वह ससारका व्यवहार बतलाया है धर्मसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। गोदान आदिसे कभी सयम वा धर्मकी रक्षा नही हो सकती। जैनाचार्योंने जगह २ गौदान कन्यादान आदि दानोंको कुदान बतलाया है गौदान आदिको कुदान कहनेवाले कुछ प्रमाण हम यहा पाठकोंके सामने उपस्थित करते हैं:—

पद्मनंदि पंचविशतिकामें आचार्य पद्मनदी महाराजने दान-का स्वरूप बहुत बडे बिस्तारसे बतलाया है। आचार्य पद्मनन्दीके बचन कितने प्रमाणीक हैं। इसके लिये इतना ही कहना पर्याप्त है कि चर्चासागरके कर्ता पाडे चम्पालालजीने मुनियोंका रहना जिन मन्दिरमें सिद्ध करनेके लिये संप्रत्यत्र कलौ काले इत्यादि श्लोकको हेरफेर कर इनकी प्रमाणीकताकी छापके लिये भरपूर

चेष्टा की है। यदि इनके वचनोंका इतना महत्व न होता तो चर्चासागरके कर्ता इनके श्लोकको क्यों अशुद्ध गढ़कर प्रमाण-रूपमे उपस्थित करते ! और भी भट्टारक ग्रन्थोंके श्लोक प्रमाणरूपमें दिये जा सकते थे। आचार्य पद्मनंदीने दानके विषयमें इस प्रकार लिखा है—

चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्र-
दानानि तानि कथितानि महाफलानि।
नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादि—
दानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ।५०।

पृ० १३४ छपा

अर्थात्—अभय औषध आहार शास्त्र इस प्रकारसे दान चार प्रकारका है तथा वह चार प्रकारका दान तो महाफलका देनेवाला कहा है परन्तु इससे भिन्न गौ, सुवर्ण, जमीन, रथ, स्त्री, आदि दान, फलके देनेवाले नहीं। पापके करनेवाले निन्दाके कारण हैं। इस लिये महाफलके अभिलाषियोंको ऊपर कहा हुआ चार प्रकारका ही दान देना चाहिये।५०। यहांपर आचार्य महाराजने गोदान आदिको सर्वथा कुदान बतलाया है। यदि जिन धर्मी ब्राह्मणोंको गाय कन्या आदिका देना दान होता तो आचार्य महाराज गोदान आदिको एकदम कुदान नहीं कह देते। उन्होंने दानके स्वरूपके समझानेमें कई श्लोक लिखे हैं वहांपर यह भी एक श्लोकसे कह सकते थे कि जिन धर्मी ब्राह्मण आदि

को गाय घोडा हाथी सोना आदि देना दान है परन्तु उन्हों ने इस बातका कही उल्लेख नहीं किया। इस लिये गौ दान आदि को दान कहना शास्त्रोक्त नहीं।

और भी प्रमाण

हरिवंश पुराणके कर्त्ता जिन सेनाचार्य विक्रमकी ६ वीं शताब्दीमें हो गये हैं। अपने समयके ये बडे भारी विद्वान थे न्याय व्याकरण ज्योतिष गान विद्या आदि सभा विषयका पंडित्य इनके अन्दर कूट कूटकर भरा हुआ था। इनका बनाया हुआ हरिवंश पुराण इस बातका ज्वलत उदाहरण है। पुराणोंमे हरिवश पुराण भी अपनी शानीका अद्वितीय पुराण है उस हरिवंश पुराणमे दानके विषयमें आचार्य महाराज लिखते हैं—

गोभूकन्याहिरण्यादि-दानानि विषयातुर
पापवघनिमितानि विप्र प्रज्ञाप्य सोऽवनौ। १३।
मोहयित्वा जडं लोकं राजलोकपुरोगमम्
प्रवृत्तः पापवृत्तेषु सप्तमीं पृथवीमितः। १४।

हरिवंश पु० ६० सर्ग

अर्थात्-विप्र मुंडल शायनने राजा प्रजा सर्व जनताको पाप वधका कारणभूत गौदान हैं पृथ्वीदान आदि करना सिखाया जिस से पाप वृत्तियोंमें प्रवृत होकर वह सातवें नरक गया। १३-१४। यहापर गोदान आदिका फल आचार्य महाराजने सातवां नर्क वतलाया है। इससे वढकर और भयकर फल क्या हो सकता है।

आश्चर्य है इस फलके सामने रहते भी लोग गौदान आदि दानोंकी पुष्टि करते हैं। थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि जैनधर्मी गृह-स्थको ही जाय आदि दी जाय परन्तु वहांपर भी उसके पालन पोषणमें हिंसा तो होगी ही इसके दूध आदिसे भी विषय कषाय ही पुष्ट होंगे, संयम नहीं पल सकता। यदि मिथ्या दृष्टिको दान देनेसे सातवां नर्क मिलेगा तो जैनधर्मीको देनेसे दूसरा तीसरा तो मिलेगा ही पर मिलेगा अवश्य, यहां रियायतका काम नहीं। फिर ऐसे नरक लेजानेवाले गौदान आदिकी पुष्टि करना दूसरोंको नरक भेजनेका उपाय बतलाना है। जो लोग गौदान आदिकी पुष्टि करते हैं उन्हें हरिवंश पुराणके इन श्लोकोंपर दृष्टि डालनी चाहिये।

और भी प्रमाण—

आचार्य सकलकीर्तिके प्रश्नोत्तरश्रावकाचार्यका जैन समाजमें बहुत बड़ा आदर है। दानके प्रकरणमें वे इस प्रकार लिखते हैं—

गोकन्याहेमहस्त्यश्वगेहक्ष्मातिल स्यंदनाः।
दासी चेति कुदानानि प्रणीतानि शठैर्भुवि।४९।

अर्थ—गाय, कन्या, सुवर्ण, हाथी, घोड़ा, मकान पृथ्वी, तिल, रथ, दासी या दान पृथ्वी विषै मूर्खनिकरि कहे हैं। ४९। यहांपर दशों दानोंका नाम लिखकर यह स्पष्ट ही कर दिया है कि स्वार्थी मूर्ख लोगोंने इन्हें दान मान रक्खा है किंतु ये दान नहीं। कुदान हैं। यहांपर जैनधर्मी गृहस्थोंके लिये भी इन्हें देनेके लिये नहीं कहा।

और भी प्रमाण

गोदानं योऽतिमूढ़ात्मा दत्ते पुण्यादिहेतवे।
वधबन्धांगिघातादिजातं पापं लभेत सः।

अर्थात्—जो अति मूढ़ात्मा गायदान ताहि देहैं पुन्यादिके हेतु। वध, बंध, अंगी जो प्राणीनिका घात तैं उत्पन्न भया जो पाप सो गोदानकारि ताहि प्राप्त होय है। ५०। इससे स्पष्ट है कि गौदान कुदान है। जैनधर्मीको देनेपर भी वह कुदान ही है क्योंकि वध बंध आदिसे उत्पन्न पाप वहां भी होगा। जैनधर्मी गृहस्थोके लिये भी इस पापमें कोई रियायत नही हो सकती। इसी तरह भूमिदान कन्यादानका भी महा भयंकर फल वतलाया हैं। इस लिये गौदान आदिको दान मानना मिथ्यात्व है।

और भी प्रमाण

आचार्य अमितगतिने अमितगतिश्रावकाचारके अंदर गौदान आदि कुदानोंका वड़े जोरसे खंडन किया है वे इस प्रकार लिखते हैं—

पीड़ा संपद्यते यस्या वियोगे गोनिकायतः
मया जीवा निहन्यंते पुच्छश्रृंगखुरादिभिः
यस्यां च दुह्यमानोयां तर्णकः पीड्यते तरां।
तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि।८४।

पृष्ठ ८६ लिखित

जिसको गौनिके समूहतै जुदा होते पोड़ा उपजे है। अरजा-करि पूछ सींग खुर आदिकनिकरि जीव हनिये हैं। अर जाका दूध दुहैं संते वच्छा अतिशय करि पीड़िये हैं तिस गौको देनेवाले पुरुषनिकरि किछू भी पुण्य न पाइये है। भावार्थ-गऊ देनेमें पुण्य का अंश भी नहीं पाप ही है। (भाषाटीकाकार पं० भागचंदजी) ५३।५४।

और भी प्रमाण

या सर्वतीर्थदेवानां निवासीभूतविग्रहा
दीयते गृह्यते सा गौः कथं दुर्गतिगामिभिः।५५।

अर्थ—जो गौ सर्वतीर्थ अर देवनिका वसनेका स्थान है शरीर जाका सो गौ दुर्गतिके जानेवालेनिकरि कैसे दीजिये है। अर कैसे ग्रहण करिये है। भावार्थ--मिथ्यादृष्टि गौके शरीरमें सर्व तीर्थ कर देव वसते माने हैं ऐसी गौको पापी कैसेदेय हैं और कैसे लेय हैं। ऐसी तर्क करी है! इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध हैं कि गौदान आदि किसी भी प्रकार दान नहीं कहे जा सकते। अमित गति श्रावका-चारमें भूमिदान सुवर्ण दान आदिके भी खोटे फल बतलाये हैं वे इस प्रकार हैं—

हलैर्विदार्यमाणायां गर्भिण्यामिव योषिति
म्रियंते प्राणिनो यस्यां सा भूः किं ददते फलं।५६।

अर्थात्-गर्भिणी स्त्रीके समान हलके द्वारा विदारण की गई पृथ्वीमें प्राणियोंका विनाश होता है तब वह दान की गई पृथ्वी

क्या फल दे सकती है । अर्थात भूमि दान देना फलदायक नहीं घोर पापका कारण हैं। तथा

तद्येऽष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया
स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशांतये । ८० ।

अर्थात्--जैसे कोई किसीको हितकी इच्छासे हिंसक अष्टापद (सिंह) देता हैं और वह उसका जीवन नाश कर देता हैं उसी प्रकार अष्टापद सुवर्णका भी नाम है वह सुवर्ण दान करना भी जीवन नाशका या दोनोंके लिये पापका कारण है। इसी तरह हाथी दान रथ दान आदिका भी भयंकर फल बतलाया है। इस-रूपसे इन महा आचार्योंके वचनोंसे यह स्पष्ट हैं कि गौदान आदि सभी कुदान है जो लोग किसी भी रूपसे उन्हें दान कहते हैं वे इन मान्य आचार्योंके वचनोंके विरुद्ध चलते हैं।

गौदान कन्यादान आदि मिथ्या दानोंके पक्षपातियोका यह कहना है कि मिथ्यादृष्टि ब्राह्मणोंको गऊ, कन्या, सोना आदि देनेसे पाप बंध होता है और इन चीजोंका उनको देना कुदान कहलाता है परन्तु जो महानुभाव साधर्मी भाई हैं। इष्ट मित्र हैं। उन्हें गाय कन्या, सोना, हाथी आदि देना दान ही है वह कुदान नही कहा जा सकता।" इसका उत्तर यह हैं कि गाय दान किसी को भी दिया जाय, मारना बांधना जीवोंका घात होना बछड़ाको पीड़ा होना, ये कार्य तो सब जगह किये जायगे और उनसे पाप बंध भीहोगा, वह कैसे रुक सकता है। साधर्मी भाई वा इष्ट मित्रो को गाय देनेसे ये कार्य होंगे ही इस लिये वहा भी पाप बंध तो

होगा ही इस रूपसे साधर्मी इष्ट मित्रोको गाय देनेसे वह दान कहा जायगा यह बनावटी बात है ! वहांपर भी पाप बंधका कारण होनेसे गाय दान कुदान ही है इसी तरह सोनादान; हाथीदान आदि भी पापबंधके कारण होनेसे कुदान ही है। समदत्तिकी भावनासे किसीको कुछ चीज दे देना उसे संतुष्ट कर देना है अथवा सहानुभूति दिखाना हैं। समदत्तिकी भावनासे दिये हुए गाय, कन्या, सोना हाथी आदिको दान नहीं कहा जा सकता क्यों कि वहां पर संयम वा धर्मकी रक्षा लेशमात्र भी नहीं हो सकती। इसलिये समदत्तिमे जहां सोना गाय हाथी आदिका देना लिखा है, जो लोग उसे दान कहते हैं ! वे दानका स्वरूप नहीं समझते। दश धर्मोंमें दानको धर्म माना है। गाय हाथो आदिको देनेमें क्या धर्म सधता है ? इस पर भी विचार करना चाहिये। जिससे विषय कषाय पोषण हो उसे धर्म कहना सरासर समय मूढ़ता है। जो हो गाय हाथी घोड़ा आदिका दान कुदान है यह हम अनेक प्रमाणोंसे अच्छी तरह सिद्ध कर चुके अब पं० मक्खनलालजीके शब्दोंपर विचार करते हैं—

पृष्ट नं० १३१ में पण्डितजीने चर्चासागरकी पंक्तियां उद्धृत कर यह वतलाया है कि "मिथ्यादृष्टि ब्राह्मण आदिको दान देना महा पापका कारण है। अन्य मतियोने गौदान, सुवर्णदान, भूमिदान, आदि ब्राह्मणोंको देना बताया है वह हिंसादिक महा पापों का वढ़ाने वाला है ! इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि वैसा तो लिखना होगा ही क्योंकि मिथ्या दृष्टि विधर्मी ब्राह्मणोंको गौदान

आदिका देना जैनधर्मानुकूल नही हो सकता। पृष्ट नं० १३२ में झाझरीजीकी शब्द उद्धृत कर उन्हें धोखेवाज आदि कहा है। यह भी अनुचित है क्योंकि झांझरीजीने आहार आदिको ही दान बतलाया है। गौदान आदिका निपेध किया है वह शास्त्रोंकी आज्ञानुसार किया है। उन्होंने धोखेवाजीका कोई काम नहीं किया। पृष्ट नं० १३३ मे चर्चासागरके वे शब्द भी उद्धृत किये हैं जिनमें यह कहा गया है कि "गौदान आदि दान जैन शास्त्रोंमें भी माने हैं।" वहांपर आपने लिखा है "इन पंक्तियोंसे स्पष्ट सिद्ध है कि चर्चासागरके बनानेवालोंने जैन मतके अनुसार गौदान, भूमि-दान, आदि दानोंको ही जैनधर्मानुकूल कहा है पर प्रयोजन उनका दूसरा है इत्यादि।" इसका उत्तर यह है कि गौदान, भूमिदान आदि कभी जैनधर्मानुकूल दान नही हो सकते यह अच्छी तरह प्रमाणोसे ऊपर सिद्ध कर दिया गया है आपने —

समानायात्मनान्यस्मै क्रियामंत्रव्रतादिभः
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनं। ३८।
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतायिने
समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्या श्रद्धयान्वितः। ३९।

गर्भाधानादि क्रिया, मंत्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है ऐसे गृहस्थाचार्यके लिये जो भूमि और सुवर्ण आदि देना हैं उसे समान दत्ति कहते हैं। अथवा मध्यम पात्र, सत्पात्र, श्रावकके लिये समान बुद्धिसे श्रद्धा पूर्वक दान देनेको भी समानदत्ति कहा

है। ये श्लोक आदिपुराणके उद्धृत किये हैं। यहां पर आचार्य महाराजने समानदत्तीका वर्णन किया है। समानदत्तीका अर्थ अपने समान व्यक्तिको आदर भावसे देना है। उसे संतुष्ट करने के लिये पृथ्वी सोना आदि देना कहा है। यहांपर जिस दानसे संयम वा धर्मको रक्षा हो उस दानका अथवा दान धर्मका कोई उल्लेख नहीं किया। इसलिये समान व्यक्तिको गाय सोना आदि से सन्तुष्ट कर देना दान धर्म नहीं कहा जाता। पृष्ठ नं० १३५ मे आपने झांझरीजोको लिखा है कि "जब महापुराणमें गौदान आदि दोनोंका विधान है तब आहार आदिको ही दान बताकर गौदान आदि को दान न कहना आपकी ना समझी है" इत्यादि। इसके उत्तरमें निवेदन यह है कि दान धर्मके आहार औषध आदि चार ही भेद हैं। गौदान आदि महाहिंसाके कारण दान नहीं हो सकते। व्यवहारमे लोगोंके संतोषके लिये ये चीज दे दी जाती हैं इसलिये इनका देना दान धर्म नहीं कहा जा सकता। महापुराणमें यही बात कही है। आप गौदान आदिको दानधर्म समझ रहे हैं यह आपकी भूल है समान धर्मी इष्ट मित्रोको गाय आदि कुछ भी दिया जा सकता हैं उन्हें उत्तमोत्तम भोजन भी कराये जाते हैं परंतु धर्म समझ कर नहीं। धर्म समझकर जो चीज दी जाती है। वही दान माना जाता है। क्या आप कह सकेंगे कि अन्य मती लोग जिस प्रकार धर्म समझ कर गौ सोना आदि दान देते हैं उस प्रकार जैनो भी क्या समान धर्मीके लिये धर्म समझ कर ही गाय घोड़ा हाथी आदि देते हैं? कभी नहीं!

पृष्ट नं० १३६ में आपने ब्राह्मण शब्दका जो अर्थ बतलाया है वह व्यर्थ है। सम्यग्दृष्टी श्रावकोंको ब्राह्मण बतलाने मे भी जैन धर्मानुसार कोई महत्व नहीं। सम्यग्दृष्टि श्रावकोंको ब्राह्मण बतलाना उनके लिये गौदान आदिकी कल्पना करना यह जैनधर्मपर दूसरे मतोंकी छाप लगाना है। आपने दहेज आदिमें वा मृत्युके समय जो गाय, पलंग, सोना आदि पदार्थ दिये जाते हैं उन्हे भी गौदान सुवर्णदान आदि कहा है। यह आपकी समझकी बलिहारी है। जैनाचार्योंने इन चीजों का देना महा हिंसाका कारण माना है फिर न मालूम इन चीजों का देना आप दानधर्म कैसे कहते हैं। गृहस्थ व्यवहारमें अपनी मान बड़ाईके लिये ये चीजें देते लेते हैं। ऐसा न करनेसे उनका चलता नहीं। वे धर्म वुद्धिसे इनमेसे कोई चीज नही देते इसलिये आपसके व्यवहारमें इन चीजोंका देना कभी दान धर्म नहीं हो सकता। व्यवहारकी बातोंको धर्म बताना मूढ़ता है। आप झांझरीजीको बार बार यह लिखते हैं कि "तुम्हें शास्त्र ज्ञान न होनेसे किसी विषयमें राय देनेका कोई अधिकार नहीं" इत्यादि। इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि यदि झांझरीजीको शास्त्रका ज्ञान नहीं तो आपही कहां शास्त्रकी बात समझते हैं। अक्षरका अर्थ कर लेना पण्डिताई नहीं। उसका रहस्य समझना चाहिये। झांझरीजी, दानका स्वरूप, धर्मकी दृष्टिसे लिखते हैं और आप उसका खण्डन व्यवहारमें प्रचलित बातोंके आधारपर करते हैं समदत्तिका अर्थ जब आपसमें देना लेना है। वहांपर धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं

तव वहांपर दी गई चीजोंको दानधर्म कहना यह आपको शोभा नहीं देता।

पृष्ठ नं० १३८ मे 'दीयतेऽद्य महादानं' इत्यादि आदिपुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं वहांपर भगवान ऋषभदेवके वैराग्यके समय खुशीमे भरतचक्रवर्तीने याचकोंको हाथी घोड़ा सोना आदि लुटाया है। पण्डितजीने उसे भी दान समझ लिया है। क्या पण्डितजी इस खुशीकी लूटको भी आप दान धर्म मानेगे। हाथी घोड़ा आदिके दानसे अहिंसाधर्मको कितना वड़ा धक्का पहुंचता है यह भी तो आप समझ लें! वात यह है कि आपने दान का अर्थ ही नहीं समझा है इसीलिये इधर उधर भटकते फिरते हैं। यहांपर आप यह नहीं कह सकते कि भरत चक्रवर्ती धर्मात्मा थे यदि वह कुदान होता तो वे क्यों करते? क्योंकि खुशीमें इस प्रकार दौलत लुटाना चक्रवर्ती राजाकी शोभा है। शोभाके लिये ही वैसा किया जाता है।

पृष्ठ नं० १३८ में 'अणुवृत धरा धीराः' इत्यादि श्लोक उद्धृत किया है यहां भी समदत्तिका वर्णन है। समानधर्मी गृहस्थोंको धन, सवारी आदि देनेकी शास्त्रकारने आज्ञा दी है। वहांपर दान धर्मका उपदेश नहीं किया। समानधर्मोंके सन्मानके लिये धन, हाथी, घोड़ा आदि दिये जा सकते हैं परन्तु उसका देना दानधर्म नहीं कहा जा सकता। क्योंकि घोड़ा हाथीके देनेमें विशेष हिंसा का वंध होता है। जहां हिंसा है वहां धर्म कहां? इसलिये उनका दान धर्म दृष्टिसे कुदान है।

पृ० नं० १३६ में 'चैत्यचत्यालयादीनां' इत्यादि श्लोक उद्धृत किया है इस श्लोकमें चैत्यालयोंकी रक्षा वा व्यवस्थाके लिये ग्राम नगर आदिका दानपत्र करदेना नित्यमह कहा है। यहां पर पण्डितजीने यह वात जाहिर की है कि "ग्राम आदि भूमिका दान शास्त्रकी आज्ञानुसार है" परन्तु यहांपर इतना ही लिखना पर्याप्त था कि "इस प्रकार दान कुदान नहीं। क्योंकि जिन मन्दिरकी रक्षा एक वह चीज है कि उससे हजारों जीवोंका कल्याण होता है। लोग जिन मन्दिरमें आकर धर्म सेवन करते हैं। यदि ग्रामादिक उसकी रक्षाके लिये प्रदान किये जायंगे तो पाप वंधकी वजाय पुण्य वंध ही अधिक होगा। मुनियोंको आहार देनेमे हिंसा होती है, जिन मन्दिर वा जिन प्रतिविम्ब वनाने में हिंसा होती है परन्तु वह हिंसा वुरी नही समझी जाती क्योंकि वहा धर्मायतनोंके निर्माण वा रक्षाके भाव हैं।" परन्तु जैसा न लिखकर पण्डितजीने इस श्लोकके आधारसे भूमिदान आदिको उत्तम दान सिद्ध करनेकी चेष्टा की है वह व्यर्थ है क्योंकि किसी व्यक्तिको चाहे वह जैनधर्मी ही हो यदि गाय घोड़ा रथ आदि दिये जायंगे तो वह खूब दूध पीयेगा आनन्दसे चढ़ता फिरता मौज करेगा। वहां तो महान हिंसा ही होगी। यदि किसीको जमीन दान दी जायगी तो जोतते समय अगणित जीवों का विध्वंस होगा। वहाँ धर्म कैसे पल सकता है? किसीको हाथी घोड़ा गाय सोना दान देना उसे वहु परिग्रही वनाकर हिंसादि पांचों पापोंका केन्द्र वनाना है। यह दान नहीं कहा जा

सकता और इनके विना चल भी सकता है। परन्तु आहार विना मुनिधर्म नहीं पल सकता जिन मन्दिरोंके विना वनाये अथवा वने हुए मन्दिरोकी विना रक्षा किये जैनधर्म नहीं टिक सकता उसकी रक्षाका ठोस प्रवंध करना होगा। ग्राम आदि प्रदान कर उसकी रक्षाका ठोस प्रवंध करना हैं।इसलिये मंदिर आदिकी रक्षार्थ ग्राम आदिका देना दूषित नहीं है। वहां वात चलरही है ब्राह्मण आदिको भूमि आदि देनेकी पण्डितजी ले उड़े मंदिरके लिए भी उसका निषेध करने। यह वात वे प्रकरण है। 'सभी काले वापके साले' नहीं होते।

पृष्ठ नं १३६ में 'गोभूमि स्वर्णकच्छादि' इत्यादि रत्नमालाका श्लोक उद्धृत किया है यह रत्नमाला किसी शिवकोटि भट्टारक का वनाया छोटासा ग्रंथ है और उसकी रचना वि० सं० १५०० में वहुत पीछे हुई है। इस वातको हम ऊपर वड़े विस्तारसे कह आए हैं। पण्डितजीने यहां मी रत्नमालाके कर्ताको भगवती आधनके कर्ता आचार्य शिवकोटि लिख मारा है यह उनकी गलती है।ऊपर हम इस वातको अच्छी तरह पुष्टकर आये है।इस श्लोकमें जिन मंदिरोके लिये गोदान करना लिखा हैं इससे पण्डितजीने सिद्ध किया है कि "जिन मंदिरोंमें गोदान किया जाता है।" इस विषयमें हमारा निवेदन यह है कि प्राचीन ग्रंथोमें कहीं भी जिन मन्दिरोंमें गोदानका विधान नहीं है। आचार्योंने गौदान को महा हिंसाका कारण माना हैं। रत्नमालामें जो गौदानका विधान किया है वह भट्टारक शिवकोटिकी कोरी कलपना है भी जिन

मंदिरोंमें गौदान करनेका चर्चासागरमें यह फल बतलाया हैं कि "मंदिरोमें गायके रहनसे भगवान जिनेंद्रका सानन्द दुग्धाभिषेक हो सकता है। पं० मखनलालजीने भी यही बात पुष्ट की हैं। इस विषयमें यहो कहना है कि गृहस्थ बराबर गायें रखते हैं वे शुद्ध दूध अपने घरसे लाकर अभिषेक कर सकते हैं। इसके लिये मंदिरोंमे गायोंके रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। गौदानका जो ऊपर बुरा फल बतलाया है वह फल तो जिनमंदिरोंमें गौदान करनेपर दूर नहीं हो सकता। अवश्य जीवोंकी हिंसा होगी। इस-लिये जिन मंदिरोंके लिये जो गौदान कहा है वह शास्त्राज्ञा नहीं है। पञ्चामृताभिषेक भी कल्पित है या शास्त्रोक्त हैं। इस विषय पर हम फिर कभी विस्तृत विवेचन करेंगे।

पृ० नं० १४१ मे आपने जिन मंदिरोंको रक्षाके लिये गाव आदि स्थावर सम्पत्तिकी अपने वचनोंसे पुष्टि की है बहुतसे ऐसे उदाहरण भी दिए हैं। जिनसे सिद्ध किया है कि अमुक जगह जिन मन्दिरोंके लिए ग्राम आदि दिए हुए हैं इत्यादि। इसके उत्तरमे यह निवेदन है कि इस प्रकारके दानपर आपत्ति ही कहां की गई है। इस दानसे इन्द्रिय कषायोंका तो पोषण होता नहीं है। जिससे इसे बुरा कहा जाय। ब्राह्मणोंको जो भूमि आदि दान में दी जाती है उनसे इन्द्रिय कषायका पोषण होता है। वहांपर धर्म मानकर दान देना मिथ्यात्व व लोकमूढता है। शिखरमें जो हाथी का दान लिखा है वह खास आवश्यकताकी पूर्ति की गई है। वह दान नहीं कहा जाता है। भगवान जिनेंद्रकी सवारी दान दिए

हुए हाथीपर वा दान दिए गए बैलोंके रथपर ही निकले यह कोई खास बात नहीं इसके लिए हाथो या बैलोंके दानको भी कोई आवश्यकता नहीं । सवारीके समय इनका आयोजन आपसे आप हो जाता है।

पृष्ट नं १४२ मे "तत्र नित्यमहो नित्यं यथाशक्ति जिनगृहेभ्य" इत्यादि चारित्र सारकी पंक्तियां उद्धृतकी हैं । इसका मतलव यह है कि जिन मन्दिरोंके लिये गांव नगर आदिका देना भी नित्य मह पूजा हे । इस वातका हम ऊपर खुलासा कर आये हैं। मन्दिरोंकी रक्षार्थ भूमिदान ग्रामादिका दान दूषित नहीं । क्योंकि यहां इंद्रिय कषायका पोषण नहीं। धर्मायतनकी रक्षाके वहां भाव हैं।

पृष्ट न० १४३ मे समदत्ति स्वसमक्रियाय मित्राये इत्यादि पंक्तियां भी चारित्रसारकी उद्धृत की हैं। इन पंक्तियोंसे समान क्रियावाले साधर्मी इष्ट मित्रोंको कन्या हाथी घोड़ा भूमि सोना आदिसे संतुष्ट करनेका विधान किया है। पण्डितजीने समान धर्मियोंको हाथी घोड़ा आदि चीजोंका देना देख उसे दानधर्म मानलिया है। यह पण्डितजीकी भूल है। यह व्यवहार वड़प्पनके और साधर्मियोंकी संतुष्टिके लिये है।

धर्म वुद्धिसे हाथी घोड़ा आदिको कोई किसीके लिये नहीं देता। समदत्ति भावनासे दी हुई चीजोंको दान धर्म कहना यह ना समझी है। इसी प्रकार कुलजाति क्रियामंत्रैः इत्यादि धर्म संग्रह श्रावकाचारका भी श्लोक उद्धृत किया है। इसमें भी समदत्ति भावनासे समानधर्मी इष्ट मित्रोंको भूमि कन्या सुवर्ण

आदिसे संतुष्ट करना लिखा है इसलिये धर्मबुद्धिसे भूमि कन्यां आदि न देनेसे वह भी दान धर्म नहीं माना जा सकता है। इसी तरह 'स्थापनं जिन विंबानां' इत्यादि श्लोक और भी धर्म संग्रह श्रावकाचारका उद्धृत किया है। इसश्लोकमें जिनमन्दिरोंकी रक्षार्थ ग्राम आदिके दानका विधान किया गया है। इस पर कोई आपत्ति नही यह ऊपर विस्तारसे कह दिया गया है जो हो। गौ हाथी घोडा आदिको कुदान माना गया है इसके लिये हमने वहुत प्रमाण दिये हैं। समदत्ति प्रकरणमें समान धर्मी गृहस्थोंके लिये गाय घोड़ा हाथी आदि देनेका विधान शास्त्रोंमे मिलता है उसीसे लोगोंने गौ दान, सुवर्ण दान, कन्या दान आदिको दान धर्म कह डाला है परन्तु यह उनकी भूल है। साधर्मी गृहस्थोंके लिये जो ये पदार्थ दिये जाते हैं वह धर्म वुद्धिसे नहीं। लोक प्रतिष्ठासे दिये जाते हैं। इनके देनेसे जीवोंका विशेष विघात होता है,इसलिये ये हाथी घोड़ा आदि दान हिंसाके कारण हैं ये कभी धार्मिक दान नही कहे जा सकते हैं इस लिये तो महानुभाव गो दान कन्यादान आदिको जैन शास्त्रानुसार मानते हैं वे गलती पर हैं। झांझरी जीने यही लिखा है कि आहार औषध आदि दान ही धार्मिक दान हैं गो दान आदि दान कुदान है। वैष्णवोकी नकल है यह ऊपर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया जा चुका। इसलिये गौ दान आदि को हिंसाके कारण होनेसे कभी सम्यग्दान नही मानना चाहिये ये कुदान हैं पापबंधके कारण हैं।

प्रायश्चित्त प्रकरणपर विचार।

प्रायः, का अर्थ अपराध है उसका चित्त अर्थात् शुद्ध करना प्रायश्चित्त कहा जाता है। गृहस्थ और मुनि दोनोंके लिये प्रायश्चित्तका विधान है। जैसा छोटा बड़ा अपराध होता है वैसा ही छोटा बड़ाप्रायश्चित करना पड़ता है। मुनिगण मूलगुण और उत्तर गुण दोनोंके धारक होते हैं। उत्तर गुण न भी पलें तो भी मूल गुण तो पलना ही चाहिये किसी समय खास कारणसे यदि मूलगुणमें विराधना हो जाय और वह ऐसी विराधना कि मूलगुणकी सत्ता तो बराबर कायम रहे परन्तु उसमे कुछ मलिनता उत्पन्न हो जाय तो उसकी शुद्धि दोषके अनुसार होती ही है किन्तु जहां पर मूलगुणका निशान ही मिट जाय वहां पर मामूली प्रायश्चित नहीं हो सकता। वहां पर तो अपराधके अनुसार कठिन प्रायश्चित ही करना होगा मूलगुणोंमें अहिंसा आदि व्रत हैं। प्रमाद वा असावधानीसे कोई सूक्ष्म जीवका विघात हो जाय तो उसका उसी रूपसे प्रायश्चित कर लिया जाता हैं परन्तु कोई मुनि यदि तीव्र कषायवश किसीको जानसे मार डाले तो वहां मूलगुणमें अतीचार नहीं कहा जाता किन्तु अहिंसा महाव्रत जो मूलगुण था

उसका समूलनाश है। वहां पर ऐसे घोर अपराधकी शुद्धि उपवास आदिसे नही होती। वहां तो दीक्षा छेद सरीखा कठिन प्रायश्चित्त ही हितकर होता है। इसी तरह यदि कोई मुनि परस्त्री हरण कर ले वा अर्जका आदिसे व्यभिचार कर डाले। तो वहां पर अचौर्य महाव्रत वा ब्रह्मचर्य महाव्रतका समूलनाश है—घोर अपराध है। वहां पर दीक्षाछेद संघवाहिर आदि ही प्रायश्चित्त कल्याणकारी हो सकते हैं। वहांपर उपवास आदिसे काम नहीं चल सकता। यदि इतने सरल प्रायश्चित्तका विधान कर दिया जायगा तो मुनियोंको जानसे मार डालना अर्जिका आदिसे व्यभिचार सेवन कर लेना भयंकर पाप न समझा जायगा। इच्छानुसार मुनि जब चाहे सानंद यह काम कर सकता है और थोड़ेसे उपवास कर शुद्ध हो सकता है। यदि इस भयंकर अपराधके लिये दीक्षाछेद संघ वहिष्कार आदि कठिन प्रायश्चित्त होगा तो किसी भी मुनिकी प्रवृत्ति उपर्युक्त भयंकर पापोंके लिये नहीं हो सकेगी।

चर्चासागर ग्रन्थमें "यदि कोई मुनि किसी मुनिको मार डाले तो उसके लिये एक वर्ष पर्यंत तेला और पारणा प्रायश्चित्त वतलाया है। अर्जिके साथ व्यभिचार करने पर प्रतिक्रमण सहित पंच कल्याणक वतलाया है। इसी तरह श्रावकको मार डाले तो छह महीनातक तेला पारणा, वाल हत्या करनेपर तीन माह तक, स्त्री हत्या के लिये डेढ़ महीना तक, ब्राह्मणके मार डालने पर छह महीनातक क्षत्रिय वैश्य शूद्रके मार डालने पर क्रमसे तीन महीना तक डेढ़ महीना तक और तेईस दिन तक एकांतर उपवास और आदि अंत

मे तेला करे। इत्यादि लिखा है तथा यदि रोगवश मुनि रात्रिमें चारों प्रकारका आहार करे तो उसके लिये तीन दिनका उपवास, अपने हाथसे वनाकर भोजन करै तो एक उपवास कईवार भोजन बनाकर उपवास करै तो तीन उपवास। काठ पत्थर ढेला आदि एक स्थानसे उठाकर यदि दूसरे स्थानमे मुनि रक्खे तो उसका प्रायश्चित्त एक कार्योत्सर्ग है। यदि यही क्रिया रात्रीमे करे तो एक उपवास है" इत्यादि विधान किया है। चर्चासागरके इस विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमवीतरागी दिगम्बर जैन मुनि भी इस प्रकारके भयंकरसे भयंकरभी अपराधकर मुनि रह सकते हैं। एक गृहस्थ भी जव इतना भयंकर अपराध नही करसकता तो शत्रु मित्रमें एक सी भावना भानेवाले मुनिगण ऐसा महा निंद्य कार्य कैसे कर सकते हैं! यह अवश्य विचारणीय है। मुनि भी महा हत्यारे और महा व्यभिचारीं अनाचारी हों जैन सिद्धान्त यह कभी स्वीकार नही कर सकता! चर्चासागरके कर्त्ताने इतने भयङ्कर अपराधियोंको भी जव मुनि मान रक्खा है तव यही कहना होगा कि उसने वाह्य भेपको ही मुनि समझ लिया है संयम और शांतिकी साक्षात् मूर्ति मुनियोंकी आत्माके स्वरूपका अनुभव नहीं किया। मुनिगणोंसे ऐसा भयंकर कार्य कभी नही होसकता।

वहुतसे लोगोंका यहांपर यह कहना है कि चर्चासागरमें यह जो प्रायश्चित्तका विधान किया है वह पार्श्वस्थ कुशील आदि भ्रष्ट मुनियोंकी अपेक्षा किया गया है। उत्तम मुनियोंकी अपेक्षा नहीं इसका समाधान यह है कि चर्चासागरमें पार्श्वस्थ आदि मुनियों

का नाम तक नहीं गिनाया। ब्रह्मा तो सामान्य रूपसे मुनि शब्द का उल्लेख किया है। चर्चासागरके मतानुसार यही जान पड़ता है कि मुनिमात्र ऐसा भयङ्कर अनर्थ कर सकता है और उपर्युक्त उपवास आदि मामूली प्रायश्चित कर वह शुद्ध हो सकता है। चर्चासागरके इस प्रायश्चित्त विधानसे मुनियोंकी प्रवृत्ति स्वच्छंद होसकती है। इससे बहुत बड़े अनर्थकी सम्भावना है। यदि चर्चासागरमें यह लिखा होता कि पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियोंकी अपेक्षा यह प्रायश्चित्तका विधान है तो विशेष आपत्ति नहीं हो सकती थी। झाझरीजी भी ऐसी आपत्ति नहीं उठाते। सामान्य रूपसे मुनिशब्द देखनेसे ही झाझरीजीने आपत्ति की है जो कि बिलकुल युक्त है।

आचार्योंने पार्श्वस्थ आदि मुनियोंको स्वयं भ्रष्ट कह कर पुकारा है। जो भ्रष्ट है वह सब कुछ अनर्थ कर सकता है, परन्तु उनका प्रायश्चित्त दीक्षा छेद ही है उपवास पारणा आदिका प्रायश्चित्त बतलाना कल्याणकारी नहीं। आचार्य वीरनंदीने इस बातको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

प्रमादेनान्यपाखंडिगृहस्थयतिसंश्रितं।
वस्तु स्तेनयत किंचिच्चेतनाचेतनात्मकं।
यतोन् प्रहरतोऽन्यस्त्रीहरणदोषश्च कुर्वतः।
दश नवपूर्वज्ञस्य आद्यसंहननस्य तत्।
पुनर्दीक्षाग्रहो मूलं सर्वा पूर्वा तपःस्थितिं।
छित्वोन्मार्गस्थपार्श्वस्थप्रभृतिश्रमणेष्विदं।

अर्थात्—यदि कोई मुनि किसी पाखन्डी गृहस्थ वा यतिकी कोई चेतन अचेतन वस्तु चुरा ले तथा मुनिको जानसे मारना और परस्त्री हरण करना आदि भयंकर पाप कर डाले तो चाहें वह दश अंग और नौ पूर्वका पाठी भी हो और आदिके वज्रवृषभ नाराच आदि तीन संहननोंका धारकभी हो तो भी उसके लिये पहिलेकी समस्त दीक्षा छेद कर फिरसे दीक्षा ग्रहण करना यह प्रायश्चित्त है। इस प्रकारके भयङ्कर पाप उत्तम मुनियों से नहीं हो सकते किन्तु उन्मार्गगामी भ्रष्ट पार्श्वस्थ आदि मुनियासे ऐसे पाप बन जाते हैं। आचार्य बीरनन्दीने मुनियोंको मारना और परस्त्री हरण करना आदि पापोंके करनेवाले भ्रष्ट मुनियोंके लिये दीक्षा छेदकर फिर दीक्षा ग्रहण करना रूप प्रायश्चित्त बतलायाहै। जब कि चर्चासागरमें एक वर्षपर्यंत तेला पारणा वा पंचकल्याणके उपवास कहा है। यहां पर आचार्य बीरनन्दीने सिद्धांतोक्त प्रायश्चित्त लिखा है। चर्चासागरका बताया प्रायश्चित्त उनके बचनोंसे बिलकुल विरुद्ध है इसलिये वह कभी प्रमाणीक नहीं हो सकता। कहिये पण्डितजी महाराज! अब हम आचार्य बीरनन्दीके बचन प्रमाण माने या आपके माननीय ग्रन्थ चर्चासागरके वचनोंको प्रमाण कहें? चर्चासागर का इस प्रकार प्रायश्चित्त विधान मुनि धर्मका घातक है। आप भी उस मुनिधर्मके घातक सिद्धांतकी पुष्टि करना चाहते हैं यह महान खेद है। आप मुनि धर्मकी रक्षाके बड़े भारी ठेकेदार बन रहे हैं सो, क्या इसी प्रकार मुनि धर्मकी रक्षा करेंगे? चर्चासागरके प्रायश्चित्त प्रकरण को पुष्ट करना मुनियोंको मुनि पदसे भ्रष्ट करना है। इससे कितना

भयङ्कर पापबंध होगा यह तो जब आप उसका फल भोगोगे तभी जान सकेंगे किसीके कहनेसे आप नहीं मान सकते। चारित्रसारके अंदर भी पार्श्वस्थ आदि मुनियोंके लिये यही प्रायश्चित बतलाया है वह इस प्रकार है—

एते पंच श्रमणाः, जिनधर्मवाह्याः एवमुक्तपार्श्वस्थादिपंचाविधोन्मार्गस्थितस्यापरिमितापराधस्य सर्वपर्यायमपहाय पुनर्दीक्षादानमूलमित्युच्यते। प्रमादादन्यमुनिसंबंधिनमृषिं छात्रं गृहस्थं वा परपाखंडिप्रतिवद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तेनयतो मुनीन् प्रहरतः वान्यप्येवमादिविरुद्धाचरितमाचरतो नवदशपूर्वधरस्योादित्रिकसंहननस्य जितपरीषहस्य दृढधर्मिणः धीरस्य भयभीतस्य निजगुणानुस्थापनं प्रायश्चित्तं भवति।

अर्थात् पार्श्वस्थ कुशील आदि पांच प्रकारके भ्रष्ट मुनि जिन धर्मसे बाह्य हैं। इस प्रकार उन्मार्गगामी भ्रष्ट और जिनका अपराध बहुत ही बडा है ऐसे पार्श्वस्थ आदि मुनियोंको पहिली दीक्षा छेद कर फिरसे दीक्षा देना यही प्रायश्चित्त है। अन्यमुनिविद्यार्थी, गृहस्थ और पाखंडियोंकी चेतन अचेतन द्रव्योंको चुराना, परस्त्रियोंका हरण करना मुनियोंको जानसे मारना आदि अनेक धर्म विरुद्ध आचरणोंको आचरण करनेवाले पार्श्वस्थ आदि मुनियोंके लिये

चाहे वे दश अंग नौ पूर्वके पाठी वज्रवृषभ नाराच आदि तीन उत्तम संहननोंके धारी परीषहों के विजेता दृढ़धर्मी धीरवीर संसारसे भयभीत भी क्यों न हो जो उन्होंने भयङ्कर पाप किया है उसको तो पहिली दीक्षा छेदकर फिरसे दीक्षा देना ही प्रायश्चित्त है। यहां पर भी चरित्रसारके कर्त्ताने चर्चासागरमे कहा गया प्रायश्चित्त न कह कर दीक्षा छेद ही प्रायश्चित्त बतलाया है। इस प्रकार आचारसार और चरित्रसारके प्रमाणोंसे यह बात निश्चित्त हो चुकी कि मुनियोंको मारना, पर-स्त्रियोंको चुराना आदि महा पापोंके करनेवाले पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनि हैं उनसे यह वज्र कुकर्म बनजाने पर उसका प्रायश्चित्त दीक्षा छेद है। चर्चासागरमें जो प्रायश्चित्तका स्वरूप बतलाया है वह शास्त्र विरुद्ध है वह कभी प्रामाणिक नहीं हो सकता इसी तरह मुनियोंको निज हाथसे भोजन बनानेवाला बताना रात्रिमें खानेवाला बताना यह मुनि धर्मको बट्टा लगानेवाली बात है। अस्तु अब हम पंण्डित मक्खनलालजीके शब्दों पर विचार करते हैं।

पृष्ट नं० १४४ मे लिखा है कि—"प्रायश्चित्त ग्रन्थोंके पढ़ने पढ़ानेका गृहस्थोंको अधिकार नहीं इत्यादि। इस विषयमे यह निवेदन है कि प्रायश्चित्त ग्रन्थोंके पढनेमे कोई हानि नहीं विद्वान गृहस्थ पूर्वाचार्योंके मतानुसार प्रायश्चित्त ग्रन्थ भी बना सकता है। गृहस्थ, भट्टारकोंके बनाये प्रायश्चित्त ग्रन्थ उपलब्ध भी हैं। हां यह बात अवश्य है कि अपराधके अनुसार किसीको प्रायश्चित्त देना यह कार्य आचार्योंका ही है। आपने यह भी लिखा है कि "प्रायश्चित्तके विषयमे समालोचना करनेका अधिकार गृहस्थको नहीं इसलिये

उस विषयमें गृहस्थोंका कुछ भी विचार करना सर्वथा अनुचित एवं अनधिकार है", इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि जिस समय आचार्य महाराज किसीको प्रायश्चित्त दे रहे हों वह चाहे भारी हो या हलका हो। उस समय किसी गृहस्थको प्रायश्चित्तकी समालोचनाका कोई अधिकार नहीं किन्तु अपराध एक है और वह बहुत भयङ्कर है उसका प्रायश्चित्त मान्य आचार्योंने तो उसीके अनुसार लिखा है और दूसरे लोगोंने जो शिथिलाचारके प्रवर्तक हैं उन्होंने उसका प्रायश्चित्त बहुत ही सरल लिखा है उस समय गृहस्थका कर्तव्य है कि वह अवश्य उस पर विचार करे। मुनियोंका मारना पर स्त्री हर लेना अर्जिकाके साथ व्यभिचार कर डालना आदि महा भयङ्कर पापोंका प्रायश्चित्त आचारसार, चारित्रसार आदि मान्य ग्रन्थोंमें पूर्व दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देना लिखा है। चर्चासागरमें इन भयङ्कर पापोंका प्रायश्चित्त कुछ उपवास पारणा वा पंचकल्याणक उपवास मात्र बहुत हलका प्रायश्चित्त कहा है। ऐसा प्रायश्चित्त माननेपर मुनियोंकी प्रवृत्तिमें भयङ्करता हो सकती है। इसलिये शास्त्र विरुद्ध जहां पर ऐसे प्रायश्चित्तका प्ररूपण हो वहां उसकी समालोचना करनेका गृहस्थोंको भी अधिकार है। पूर्वापर विरोधी वचनको कोई गृहस्थ प्रमाणीक नहीं मान सकता। चर्चासागरमें जो महान भयङ्कर पापोंका न कुछ प्रायश्चित्त कहा है वह शास्त्र विरुद्ध है। इसलिये भौंसरोजी द्वारा प्रायश्चित्तके उस स्वरूप पर आपत्ति करना बिलकुल उचित है। पृष्ट नं० २४५में आपने लिखा है 'प्रायश्चित्त गुरुद्वारा नियत कीगई आज्ञा है। वह पात्रकी योग्यता देखकर हीनाधिक रूपसे दिया जासकता है हम

गृहस्थ लोग उसका विचार नहीं कर सकते इत्यादि" इसका उत्तर यह है। व्रतमें जहां प्रमादवश अतीचार लग गया हो वहां गुरु योग्यतानुसार हलका भारी प्रायश्चित्त दे सकता हैं किन्तु जहां व्रतको ही समूल नष्ट कर दिया हो वहां पर तो कठोर प्रायश्चित्त ही देना होगा मार डालना, व्यभिचार परस्त्री हरण आदि भयङ्कर पाप हैं। इनका प्रायश्चित अपराधीका सर्वस्व छीन लेना है तथा वह सर्वस्व छीन लेना, दीक्षा छेद ही है। ऐसे पापोंका यही प्रायश्चित आचारसार और चारित्रसारमें कहा गया है। चर्चासागरके कर्ताने तो ऐसे भयंकर पापियोंका मुनिपना कायम रखकर बहुत हलका प्रायश्चित्त, उपवास, पारणा, वतला दिया है। जो कि मुनिधर्मका नाशक है। इसके बाद आपने लिखित और छपे ग्रन्थों की उपयोगिता पर विचार किया है जो कि व्यर्थ है। आपने यह भी लिखा है "प्रायश्चित्त आदि प्रकरणोंका वर्णन होनेसे चर्चासागरका छपना व्यर्थ नहीं क्योंकि उसके पहिले बहुतसे ग्रंथ छप चुके हैं। जिनमें गौदान, भूमिदान, कन्यादान आदिका विधान है "तथा यहांपर यह भी लिख मारा हैं कि "हमने उन सब ग्रंथों के प्रमाण दिये भी हैं" इत्यादि इस विषयमें यह कहना है कि पहिले जो ग्रंथ विपरीत मालूम हुए हैं उनका काफी विरोध किया गया है उस विरोधसे उनका आसन भी गिर चुका है। चर्चासागर ग्रंथके छपनेके साथ ही विना मूल्य काफी प्रचार किया गया सब लोगोंके देखनेमें वह आया इसलिये बड़े जोरसे उसके विरुद्ध आवाज उठाई गई। आपने गौदान आदि की पुष्टिमे जो प्रमाण

दिये हैं वे कितने सारहीन और शास्त्र विरुद्ध हैं। आपको मेरे इस परिश्रमसे पता चल जायगा विशेष लिखना व्यर्थ है। पृष्ट नं० १४७ मे आपने—

'प्रमादेनान्यपाखण्डि' इत्यादि तीन श्लोक आचारसारके उद्धृत किये हैं। आपके लिये इनका उद्धृत करना बिलकुल व्यर्थ है क्योंकि मुनियोंका मार डालना परस्त्री चुराना इत्यादि भयंकर पापोंका प्रायश्चित यहांपर दीक्षा छेद कहा है। चर्चासागरमें यह नही कहा। इसके विपरीत उपवास और पारणा करलेना प्रयश्चित बतलाया है। हमने इन श्लोकोको ऊपर प्रमाणरूपसे लिखा है। चर्चासागरमे पार्श्वस्थ आदि मुनियोंके लिये यह प्रयश्चित्तका विधान है, यह नहीं लिखा। आप अपनी ओरसे जोड़कर उसकी बात पुष्ट कर रहे हैं। जो हो उपर्युक्त भयंकर पापोंका प्रायश्चित दीक्षा छेद ही है, यही इन श्लोकोसे प्रगट किया गया है। चर्चासागरमें जो इन भयंकर पापोंका बहुत थोड़ा प्रायश्चित कहा है वह विरुद्ध है। पृष्ट नं० १५० में आपने लिखा है—कि "अपराधीको आचार्य, दीक्षा छेदकार प्रायश्चित्त देते हैं। अनेक आचार्योंके पास घुमाकर उसकी शांत आत्माकी परीक्षा करते हैं फिर यथायोग्य उपवासोंका विधान बताते हैं। चर्चासागरमें पूराप्रकरण नहीं इसलिये झांझरीजी उस ग्रंथको खिल्ली उड़ाकर भले ही शेख चिल्लीपनका काम करें। जो बात चर्चासागरमें कही गई है वह सभी प्रमाण और शास्त्रोक्त है इत्यादि" इसका उत्तर यह है कि चर्चासागरमें दीक्षा छेदका वा आचार्योंके पास अपराधी मुनिके

भेजनेका कोई जिक्र नहीं जिससे यह कहा जा सके कि इस दंडके बाद उन दंडित मुनियोंके लिये पीछेसे उपवास पारणा आदि प्रायश्चित्तोंका विधान है क्योंकि वहां तो भयंकर भी पापोंके लिये सामान्यरूपसे उपवास और पारणाओंका ही प्रायश्चित्त बतलाया है इसलिये चर्चासागरमें पूरा प्रकरण नहीं, यह आप का लिखना व्यर्थ है मालूम होता है आचारसारमें इस प्रकारका प्रायश्चित्त विधान देखकर आपने चर्चासागरकी रक्षाके लिये यह कल्पनाकी है। झांझरीजीकी जो चर्चासागरके शब्दोंपर वहअपत्ति है सो बिलकुल ठीक है। चर्चासागरके कर्ताको जब इस विषयका पूरा ज्ञान न था तब उसे नहीं लिखना था। उसमें कुछ शेखी नहीं मारी जाती थी। चर्चासागरके शब्द मुनिधर्मकी रक्षामें बाधक है वे किसी तरह शास्त्र सम्मत नहीं हो सकते। इन शब्दोंके रहते भी उसे प्रमाणीक मानना बिलकुल मूढ़ता है, इस तरह चर्चासागर प्रमाणीक नहीं बन सकता। आपने एक सेठकी कथा उल्लेख कर उसका बहुत हलका प्रायश्चित बताकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि भयंकर भी पापका आचार्य बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देते हैं, परन्तु प्रकृतमें यह बात घटती नहीं। वहां तो अपनी ज़ाति में अपने समान किसीको बड़ा न समझ कर और यह विचार कर कि मेरा कोई क्या कर सकता है? मेरा वैभव देख सबोंको दबना पड़ेगा? इस धनकी मदांधतासे वैसा किया गया था। उससे धर्मको बड़ा भारी धक्का नहीं पहुंचता था। परन्तु एक मुनि व्यभिचार सेवे, मुनिको जानसे मारे, परस्त्री हरण करे तो वहां

धर्मको वड़ा भारी लाछन लगाता है। वहां तो दीक्षा छेद कर फिर उसके परिणामोंको धर्मानुकूल जान दीक्षा देना ही प्रायश्चित्त है। ऐसे पापोंके करनेपर मुनिपना कायम रखकर उपवास आदिका प्रायश्चित्त बतानेसे काम नहीं चलता। पृष्ठ न०१५१ में आपने—

पासत्थ भावणाओ इत्यादि षट् प्राभृतकी गाथा उद्धृत कर 'पाश्वस्थ आदि मुनियोंका स्वरूप बतलाया है। यह भी व्यर्थ है। जब चर्चासागरमें इनको लक्ष्यकर प्रायश्चित्तका विधान नहीं कहा तब चर्चासागरके कथनको पुष्टिमें तो इनका स्वरूप बतलाना व्यर्थ ही है। पाश्वस्थ आदि मुनियोंका भेद बतानेके लिये आपने मूलाचारका भी एक प्रमाण दे डाला है। उसका भी प्रकृतमें उपयोग नहीं। पृष्ठ न० १५३ आपने लिखा है कि "ऐसे भ्रष्ट मुनियोंकी चर्चासागरमें निंदा ही की गई है उन्हें अच्छा नहीं बतलाया। उन भ्रष्ट मुनियोंके कुकृत्यकी थोडी भी प्रशंसा वा समर्थन किया होता तो झांझरीजी या उनको आगे रखनेवाले पण्डित या बाबू कोई भी बतावें। चर्चासागरके बहिष्कारकी भावनासे ग्रंथका अभिप्राय बदलकर पत्रों द्वारा लोगोंको अन्यथा समझाते हैं इत्यादि"। इसका उत्तर यह है कि यह ठीक है कि मुनियोंके कुकर्मकी निंदा ही की गई है परंतु इस निंदासे मुनिधर्मकी रक्षा नहीं हो सकती। इस भयकर कुकर्मका यदि थोडा सा प्रायश्चित्त बतलाया जायगा तो हर कोई कुकर्म कर थोडा प्रायश्चित कर लेगा। ऐसी निंदा किस कामकी जिससे मौलिकता

ही नष्ट हो जाय। आप झांझरीजी और उनके मित्रोंको चाहे जहां कोस डालते हैं यह आपका कार्य विद्वत्ताका नहीं जब आपसे उत्तर नहीं बनता तब चुप रहनेमें कोई हानि नहीं। कोसनेसे तो और भी खोखेपनकी बू फैलती है। पृष्ट नं० १५४ में आपने—

'एते पंच श्रमणाः जिनधर्मबाह्यः' इत्यादि चरित्रसारकी पंक्तियां उद्धृत की है। चारित्रसारके कर्ताने इन पंक्तियोंसे व्यभिचारी आदि भयंकर पापी मुनियोंके लिये निजगुणानुस्थापन अर्थात् फिरसे दीक्षा ग्रहण करना ही प्रायश्चित्त्त कहा है। इस कथनसे चर्चासागरके कथनकी पुष्टि नहीं होती इसलिये इन पंक्तियोका उद्धृत करना आपके लिये व्यर्थ है। हम ऊपर इन पक्तियोको प्रमाणरूपसे उल्लेख कर आये हैं। चारित्रसारकी जो ये पक्तियां हैं उनमें निजगुणास्थापन शब्दका उल्लेख किया है उसका अर्थ गुणोंका फिरसे उपस्थापन कर देना अर्थात् फिरसे दीक्षा ग्रहण करना यह अर्थ है। शब्दपर विचार करनेसे एक मामूली जानकार भी निज गुणानुपस्थापनका अर्थ समझ सकता है। पंडितजीके ध्यान शरीफमें यह अर्थ नहीं आया वे पृष्ट नं० १५४ में लिखते हैं 'निजगुणानुपस्थापन' नामका प्रायश्चित्त बतलाया है अर्थात् इसका तात्पर्य यह है कि छेद परिहार और उपस्थापन आदि जिस प्रकार प्रायश्चितके भेद हैं उस प्रकार निजगुणानुपस्थापन भी कोई भिन्न ही प्रायश्चित्तका भेद है। बलिहारी इस पंडिताईको है। यदि आचारसारकी पंक्तियोंका भाव भी दिमागमें जमा रहता तो भी निजगुणानुपस्थापन

नामका भिन्न प्रायश्चित वतलानेका साहस नहि होता क्योंकि आचारसारमे भी इस विषयका इसी रूपसे वर्णन किया है। परन्तु चवल ध्यानमे यह बात टिके कैसे ? निजगुणानुपस्थापन नामका कोई जुदा ही प्रायश्चित वतानेसे तो यही जान पड़ता है कि पंडितजीको प्रायश्चितके विषयका जरा भी ज्ञान नहीं। नहीं तो क्या जानकार कहे जानेवाले व्यक्तिसे इतनी वडी गलती हो सकती थी ! क्योंकि, 'निजगुणानुपस्थापन' इस शब्दके अक्षरोंसे फिरसे दीक्षा ग्रहण करना यह अर्थ टपक रहा है—कोष आदिके देखनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं तथा आचारसारमे हूवहू यही विषय रहनेसे वहांपर पुनर्दीक्षाग्रहण करना यही प्रायश्चित वतलाया है। यहांपर तो पंडितजीने वही उदाहरण उपस्थित कर दिया कि एक पंडितजी कहीं कथा वाच रहे थे विशेष ज्ञानकार तो थे नहीं। इधर उधरसे सुनकर कुछ ज्ञान रक्खा था पर मूर्खों को लच्छेदार वातें सुनाकर रिझाना खूब जानते थे। पंडितजी जव यहां वहाका गप मारने लगे तो एक समझदारने किसी शब्दका अर्थ धर पूछा, पंडितजीको उसका उत्तर तो सूझ न पड़ा। मूर्खोंमें वदनामी न हो जाय इस ख्यालसे उन्होंने कह दिया यह भागवतके अमुक पात्रका नाम है इत्यादि। सिहिरवान पंडितजी ! इतनी वड़ी नासमझी रखनेपर प्रायश्चित विषयपर विचार करना शोभा नहीं देता। मूर्ख तो आपकी तारीफके पुल वांध सकते हैं पर विद्वानोंको आपकी इतनी मोटी अजानकारीसे कितना शर्मिंदा होना पड़ेगा। यह भी तो आपको

ध्यानमे रखना था! एक दो बातको अजानकारीपर तो नहीं भी कुछ लिखा जा सकता है किन्तु जहां अजानकारियोंका ढेरका ढेर हो वहां तो कुछ टीका टिप्पणी करनी ही होगी। एक दो घावकी मलहमपट्टी हो सकती है पर जहां सारा शरीर ही फूट निकला हो वहां किस २ घावकी मलहमपट्टी की जा सकती है! अस्तु।

चर्चासागरमें ब्राह्मणके मारनेका क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा अधिक पाप बतलाया है वहांपर यह आपत्तिकी गई है कि ऐसा क्यों! इस बातकी पुष्टिमें आपने पृष्ट नं० १५५ में "स्याद्वध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः" इत्यादि दो श्लोक आदिपुराणके उद्धृत किये हैं इन श्लोकोंमें यह लिखा है कि जो ब्राह्मण स्थिर आत्माका धारक हो धर्मका धोरी हो उसे नहीं मारना चाहिये क्योंकि गुणीके मारनेसे धर्मकी विशेष हानि होती है और गरीबोंके मारनेसे भी हानि तोहैही किंतुब्राह्मणकेमारनेसेयहां विशेष हानिहैं।" परन्तु यहांपर स्थिरात्मा शब्ददेकरब्राह्मणशब्दसेसंयमी मुनियोंका ग्रहण जान पड़ता है क्योंकि यशस्तिलक चंपूमें मुनियोंके लिये ब्राह्मण शब्दका व्यवहार किया गया है (यह बात ऊपर श्राद्धतर्पणके समय लिखी गई है।) यदिब्राह्मण शब्दसे मुनियोंका ग्रहण न किया जायगा तो मुनियोंसे भी ब्राह्मणका मारना विशेष हानिकर समझा जायगा यह बात हो नहीं सकती क्योंकि धर्म दृष्टिसे मुनिगण विशेष उपकारी हैं। ब्राह्मण शब्दसे सम्यग्दृष्टि

श्रावक अर्थ नही लिया जा सकता क्योंकि उसकी आत्मा स्थिरात्मा नहि कही जा सकती। आचार्य जिनसेन मुनियोकी अपेक्षा ब्राह्मणोको महान समझें यह हो नहीं सकता। जो भी हो तो भी आदिपुराणमे इन श्लोकोसे यह नही निकलता कि ब्राह्मणके मारनेमे ज्यादा पाप है क्षत्रियादिके मारनेमे नहीं।

पृष्ट नं० १५६ में 'साधूपासक बाल स्त्री धेनूना' इत्यादि गुरुदास विरचित प्रायश्चित चूलिकाका प्रमाण दिया है' इस श्लोकमें मुनि श्रावक, बालक, स्त्री, गौके मारनेका प्रायश्चित कहा है और वहापर गुणोंकी अपेक्षा मार डालनेपर हीनाधिक प्रायश्चित बतलाया है। यहापर एक बात तो यह है कि ब्राह्मणके मारनेपर अधिक पाप लगता है उससे थोडा क्षत्रियके मारनेपर उससे थोडा वैश्यके मारनेपर यह जो विधान चर्चासागरमे लिखकर ब्राह्मणको बहुत महान बतलाया है यह बात यहां नही कही हैं। इसलिये चर्चासागरमें जो ब्राह्मणको महान माना गया है यह बात ठीक नहीं है। दूसरे एक मुनि यदि अन्य मुनिको मार डाले तो इसका प्रायश्चित जो एक वर्ष तेला पारणा बतलाया है वह आचारसार और चरित्रसारसे विरुद्ध पड़ता है तीसरे गुरुदासको आचार्य लिखा गया है यह बात जरा खटकती है। आचार्य रूपसे गुरुदासका कहीं उल्लेख नही मिलता इसलिये इनका वचन प्राचीन आचार्योंके समक्ष महत्व नही रख सकता। चर्चासागरमे लिखा हैं कि ये जो प्रायश्चित विषयके प्रमाण दिये हैं। प्रायश्चित चूलिका ग्रन्थसे दिये हैं। वह प्रायश्चित चूलिका

प्राकृतका ग्रन्थ है। गुरुदासने उसीकी नकलकी है इसलिये चर्चा-सागरके समान गुरुदासका भी संस्कृत प्रायश्चित चूलिका ग्रंथ प्रमाणीक नही माना जा सकता।

पृष्ट नं० १५७ में विरदोय सावओय इत्यादि दो गाथायें इंद्र-नंदि भट्टारक विरचित प्रायश्चित छेदकी उद्धृत की है। इन गाथाओंमें भी मुनि श्रावक आदिके मारनेका हीनाधिक प्रायश्चित बतलाया है जैसा कि ऊपरके श्लोकसे गुरुदासने लिखा है। मालूम यही होता है कि प्रायश्चित चूलिका प्रायश्चित संग्रह और प्रायश्चित छेद ये ग्रन्थ एक दूसरेको देख कर बने हैं। सबोमें एक ही वात है और वह आचारसार और चरित्रसारके कथनसे विरुद्ध होनेके कारण सिद्धांत विरुद्ध हैं।

पृष्ट नं० १५७ में 'जो अब्बंभ' सेवदि विरदो संतो संइ अवि-रणाह' इत्यादि गाथा भट्टारक इंद्रनंदि विरचित प्रायश्चित छेद-की उद्धृतकी है। चर्चासागरमें जो अर्जिकाके साथ व्यभिचार करनेका पंचकल्याणक उपवास मात्र प्रायश्चित कहा है वही इस गाथासे पुष्ट किया गया है। यह कोई प्राचीन ग्रन्थका प्रमाण नहीं प्रायश्चित चूलिका और यह प्रायश्चित छेद एक दूसरेकी नकल है। तथा—

'रात्रौ ग्लानेन मुक्तः स्यादित्यादि' श्लोक गुरुदासकृत प्राय-श्चित समुच्चयका उद्धृत किया हैं। चर्चासागरमें जो यह बात लिखी हैं कि मुनि रात्रिमें चारों प्रकारका आहार खा सकता है उसीबातकी पुष्टि इस श्लोकसे की गई है। प्रायश्चित्त

चूलिका नामका ग्रन्थ जिसके कि आधारसे चर्चासागरमें प्राय-श्चित्त विषय लिखा गया है उसीकी यह नकल है इसलिये शास्त्रविरुद्ध होनेसे यह बात प्रमाणीक नहीं मानी जा सकती पृष्ठ न० १५२ में पं० मक्खनलालजीने स्वयं भी प्रायश्चित्त चूलिका ग्रन्थकी टीका उद्धृत की है इस टीकाके शब्द और गुरुदासके श्लोकके शब्द मिलते जुलते हैं तथा इस श्लोकका अर्थ पण्डितजीने संस्कृत टीकाके अनुसार ही लिखा है ऐसा स्वयं प्रगट भी कर दिया है। सार बात यह है कि पंडितजी ने जो यहा चर्चासागरकी पुष्टिमे प्रमाण दिये हैं वे ग्रन्थ एक दूसरेकी नकल हैं और शिथिलाचारी भट्टारकोके बनाये हैं इसी-लिये प्राचीन ग्रन्थोंसे उनका कथन बिलकुल विरुद्ध पडता है अतः वे प्रमाणीक नहीं माने जा सकते।

पृष्ठ नं० १५६ में लिखा गया है कि मुनियोंकी भ्रष्टताकी चर्चा-सागरमें निन्दा ही की गई है। तथा चर्चासागरकी वे पंक्तिया भी उद्धृत की गई हैं। इसका हम उत्तर ऊपर दे चुके हैं ऐसी निन्दा किस कामकी जिससे मुनिधर्मकी मौलिकता चली जाय। जैसा उनका भयंकर पाप है उसीप्रकार आचारसार आदि सैद्धांतिक शास्त्रोंके अनुसार उनका प्रायश्चित्त होता तो वह ठीक होता चर्चासागरमें मुनिपना कायम रखकर भयंकरसे भयंकर पापका भी प्रायश्चित्त बहुत सरल बतलाया हैं। यह मुनिधर्मकी सत्ता मिटानेवाला है। जो हो यह अच्छी तरह निश्चित हो चुका कि चर्चासागरमें तो प्रायश्चितका प्रमाणलिखा

है वह प्रायश्चित चूलिकाके आधारसे है । प्रायश्चित चूलिका का कथन आचारसार चारित्रसारआदि ग्रन्थोंसे विरुद्ध है इसलिये चर्चासागरमें जो प्रायश्चित प्रकरण है वह शास्त्रोंके विपरीत है वह कभी मान्य नहीं हो सकता । इस रूपसे चर्चासागरकी भी प्रमाणीकता कायम नहीं रह सकती ।

चर्चासागरमें प्रायश्चित प्रकरणमें रजस्वला स्त्रीसे बालक का स्पर्श होनेपर इस प्रकार प्रायश्चित लिखा है ।—

नया सह तद्बालस्तु ह्यष्टस्नानेन शुद्ध्यति ।
तां स्पृशन् स्तनपापी चेत्प्रोक्षणेनैव शुद्ध्यति ।

।३८। त्रिवर्णाचार।

इसका अर्थ यह है कि यदि कोई बालक मोहसे रजस्वला स्त्रीके पास सोये बैठे वा रहैं तो सोलहवार स्नान करनेसे उसकी शुद्धि होती है । दूध पीनेवाले बच्चाकी शुद्धि जलके छींटे देने मात्रसे हो जाती है । यही अर्थ चर्चासागरमें लिखा गया है । यहांपर बालकका प्रायश्चित सोलह बार स्नान बताना बहुत कड़ा है । इसीपर ब्रह्मचारीजीने आपत्ति की है कि ऐसे कड़े प्रायश्चितसे बालकको निमोनिया आदि रोग पकड़ सकते हैं । यह बात पं० मक्खनलालजीकी समझमें ठीक जच गई है इसलिये उन्होंने लिखा है कि ह्यष्ट और स्नान शब्दोंको जुदा न कर दोनोंको समासांत मानलिया है इसलिये चम्पालालजीसे भूल हो गई है । वास्तवमें 'ह्यष्ट:' यह विसर्गान्त पद है और उससे यह अर्थ होता है कि सोलह वर्षका बालक स्नान करनेसे

शुद्ध होता है । वास्तवमें पाड़े चम्पालालजीकी भूल वताकर यहां पं० मक्खनलालजीने बड़े ही साहसका काम किया है। यदि ऐसी उनकी भूलें और जगह भी स्वीकार करली जातीं तो यह जन धनकी शक्ति नष्ट न होती और न समाजमें क्षोभ पैदा होता चलो एक जगह भूल स्वीकार करनेपर यह तो पं० मक्खन-लालजीके शब्दोंसे सिद्ध हुआ कि पाडे चम्पालालजी भी भूल कर सकते हैं। उनके वचन आप्त वचन नहीं। परन्तु विचार किया जाय तो पं० मक्खनलालजीने जो पाडेजीकी भूल पकड़ी है वह भूल नहीं। वास्तवमें इस श्लोकमें सोलह वार ही स्नानका विधान है। सोलह वर्षके जवान पुरुषकी वालक संज्ञा नही। कोष और नीतिमें वालक संज्ञा ५ वर्षतक मानी है। विचारिये एक स्त्रीके तीसरी या चौथी वर्षमें दूसरा बच्चा हुआ। तो पहिले वच्चेका दूध छूट जानेसे वह तो दूध पीनेवाला कहा नही जा सकता। दूसरा बच्चा दूध पीनेवाला कहा जायगा। दूसरे वच्चेके लिये चर्चासागरके मतानुसार जलके छींटोंसे शुद्धि और पांचवर्षतकके बालकके लिये सोलहवार स्नानसे शुद्धि है; यही अर्थ त्रिवर्णाचारके श्लोकका है। पंडितजी लिखते हैं कि मोहसे १६ वर्षका वालक माके पास जा सकता है सो सकता है इत्यादि इस बात पर बड़ी हंसी आती है। सोलह वर्षका बालक जिसके सन्तान उत्पन्न हो सकती है वह मोहसे माके पास सोयेगा कि अपनी स्त्रीके पास सोयेगा वह रजोधर्मका स्वरूप जानेगा फिर वह माको रजस्वला जानकर

थी कैसे उसके पास सोवेगा। यह समझ नहीं पड़ता।" जिस सिद्धांतमें अष्टम वर्षमें यज्ञोपवीत अणुव्रतका विधान है। तथा अष्टम वर्षमें केवल ज्ञान तककी प्राप्ति मानी है फिर वहां उससे दूनी अवस्था वाला व्यक्ति; क्या यह भी न समझेगा कि मेरी मा रजस्वला है इसके पास न सोना चाहिये ? पंडितजी महाराज ! दूसरे आदमीने लकड़ी पकड़ा दी उसीके सहारे न खिचे जाइये। बुद्धि नेत्र आपके पास मौजूद हैं उनसे काम लीजिये। आपने त्रिवर्णाचारके श्लोकको भाषाटीकाओंसे ही यह निश्चय कर लिया कि सोलह वर्ष तकका भी बालक होता है। यह महान अचरज है त्रिवर्णाचारकी भाषाटीकामें यदि इस श्लोकका अर्थ अशुद्ध हैं तो उसकी आज्ञानुसार चलनेवाले तो इसे शुद्ध कर सकते हैं—उन्हें तो बुद्धि रूपी नेत्र प्राप्त हैं। कृपानिधान ! कानी स्त्रीके औलाद कानी हीं नहीं होती, दोनों उज्वल नेत्रवाली होती है। यह तो आप भी अच्छी तरह जानते हैं। आप निश्चय समझें सोलह वर्ष तो बहुत है ४—५ वर्षके बालकको भी यदि यह ज्ञान हो जाय कि मेरी मा रजस्वला है तो वह भी स्पर्श नहीं करता इसलिये त्रिवर्णाचारमे जो बाल शब्द दिया है उसका अर्थ अबोध बालक ही है। वही माताके पास मोहसे जा भी बैठ सकता है इसीके लिये यह १६ बार स्नानका विकट विधान कर डाला है। पाडेजीने जो इस श्लोकका अर्थ दिया है वह ठीक किया है। झांझरीजी की आपत्ति ठीक है आपने जो इस श्लोकका विना विचारे अर्थ किया है वह आपकी गलती है। किसी विचारशील विद्वानसे आप समझ सकते हैं।

पृष्ठ नं० १६२ में "रोगी स्त्री यदि रजस्वला न हो जाय तो उसका विधान जो यह लिखा है कि दूसरी सशक्त स्त्री दशवार छूकर दशवार स्नान करे तो वह शुद्ध हो जाती है यह विधान बिलकुल नया और मन गढन्त है और भी जगह रजस्वलाकी शुद्धिका विधान आया है वहां ऐसी मनगढ़न्त बात नहीं दीख पड़ी। यदि कहीं और जगह विधान हैं तो आपको वे वचन उद्धृत करने थे यह सब ढोंग हिन्दू धर्मसे उड़ाया जान पडता हैं।

पृष्ठ नं० १६५ में यह लिखा है कि-"जो गृहस्थ सभामें बैठकर बातें करे तो ऐसे पुरुषको देखकर वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये"। इत्यादि इसपर भाई रतनलालजी झांझरीने आपत्तिकी है। वहां आपने यह लिखकर कि 'चर्चासागरमें रजस्वला स्त्री की बात करे उसके लिये ऐसा लिखा है' तथा झांझरीजी-को धोखेबाज ठहराया है। परन्तु यह आपकी बडी भारी भूल है जहापर यह लिखा गया है वह रजस्वला शुद्धिके प्रकरणमें अवश्य लिखा गया है परन्तु उस प्रकरणसे इस लिखनेका कोई सम्बन्ध नही। वहांपर कहीं दूसरे मतसे एक श्लोक उठाया है उसके आधारसे यह लिखा गया है देखिये वह श्लोक इस प्रकार हैं।

अश्वारूढं यतिं दृष्ट्वा खाट्वारूढां रजस्वलां।
शास्त्रस्थाने गृहवक्तृन् सचेलस्नानमाचरेत्।

अर्थ—घोड़ेपर चढ़े हुए मुनिको, खाटपर बैठी रजस्वला

स्त्रीको, शास्त्र सभामें बैठकर घरकी बातें करनेवाले पुरुषोंको देखकर वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये। पाठक! विचार कर लें यह श्लोक स्वतंत्र है। और यह श्लोक जैनाचार्योंका भी नहीं हो सकता क्योंकि मुनि घोड़ापर कैसे बैठ सकता है। दूसरे मतसे उठाकर इसे जबरन चर्चासागरके कर्ताने प्रमाणरूप मान लिया है। तथा गृहवक्तृ... यह पद देकर तो स्पष्ट ही कर दिया है कि घरकी बातें करनेवाले पुरुषोंको देखकर वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये। यहांपर 'रजस्वला स्त्रियोंकी बातें करनेवालेको' यहअर्थ निकलता ही नहीं फिर न मालूम पं० मक्खनलालजीने भाई झांझरीजीको कैसे धोखेबाज कह डाला प्रकरण देखेंगे नहीं। विचारके लिये बुद्धिको तकलीफ न देंगे आंख मीच चाहे सो बक डालेंगे इससे पण्डिताई की प्रशंसा नहीं हो सकती। यहांपर पंडितजीने चर्चासागरका प्रकरण पढ़ा तक नहीं इधर उधर देख कर लिख मारा है इसी लिये उन्हें झांझरीजीका धोखापन सूझा है। वास्तवमें पण्डितजीने जितने भी उत्तर लिखे हैं सब जगह नासमझीका काम किया है। कहीं भी विचार करनेके लिये तकलीफ नहीं की। अपनी व्यर्थ कषाय पोषण कर उन्हें समाजमें तहलका मचाना था। लोगोंकी जन धन शक्ति नष्ट करनी थी सो भरपेट कर ली, अब आप विचारलें आपने चर्चासागरका निर्दिन पक्ष लेकर कितना बड़ा अनर्थ किया है। झांझरीजीने जो बात लिखी है वह अपनी समझके अनुसार बिलकुल ठीक लिखी हैं उससे उन्हें तो आपने मोटे २ अक्षरोंमें धोखेबाज लिख डाला और

आपने झूठी बात लिख कर लोगोंको धोखेमें डाल दिया सो आपने अपनेको धोखेबाज न समझा?। आश्चर्य है एकबार आप अपने माननीय ग्रंथ चर्चासागरको उठाकर देखिये, उसमेंयह कहीं नहीं लिखा है कि "शास्त्र सभामें रजस्वला स्त्रियोंकी बात करने वालोंको देखकर वस्त्रसहित स्नान करना चाहिये" किंतु कहीं अन्यत्रका श्लोक उद्धृत कर उसके अधारसे यह लिखा है कि जो मनुष्य शास्त्र सभामें बैठकर घरकी बातें करें उन्हें देख कर वस्त्र-सहित स्नान करना चाहिये। यह बहुत कड़ा प्रायश्चित है जैनाचार्य कभी ऐसा प्रायश्चित नहीं दे सकते। अब आप सोच लीजिये आपने यह बात झूठ लिख कर कितना बड़ा धोखा दिया है। एक विद्वान कहे जानेवाले व्यक्तिका इस प्रकार धोखेबाजी से लिखा जाना नितांत घृणित है।

सार बात यहापर यह है कि चर्चासागरमें जो प्रायश्चित्त प्रकरण लिखा है वह जैन शास्त्रानुकूल नहीं। हिंदू धर्ममें प्रायश्चित्तकी सुलभता देख जैन धर्मको भी सुलभ और सरल बनानेके लिये यह प्रायश्चित्तका सुलभरूप ढाला गया है। प्रायश्चित चूलिका, प्रायश्चित्त, छेद प्रायश्चित्त संग्रह आदि ग्रंथ शिथलचारियों द्वारा बनाये गये हैं और ये एक दूसरेकी नकलें हैं। क्योंकि इनमें एक सा ही कथन दीख पड़ता है तथा प्राचीन ग्रन्थोंमें जो प्रायश्चित्त मिलता है उससे इन ग्रन्थोंमें लिखा प्रायश्चित प्रकरण बिलकुल विरुद्ध है। चर्चा सागरमें तो हिन्दू धर्मके श्लोकोंको लेकर प्रायश्चित्तका स्वरूप और भी बढ़ाकर लिख डाला है

इसलिए वह कभी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जो लोग छोटी हठसे चर्चासागरका समर्थन करते हैं उन्हें परिश्रम कर प्राचीन ग्रन्थोंका मनन करना चाहिए।

अन्तिम सारांश

वस्तुका जो खास स्वरूप है वही असली और शुद्ध स्वरूप कहा जाता है यदि उसमें जरा भी परिवर्तन वा पलटन हुई तो असलियत नष्ट हो जाती है और वहपदार्थ विकृत माना जाता है। जैनाचार्योंने भगवान महावीरके वचनोंके आधारसे जो जिस पदार्थका स्वरूप हैं वही उस पदार्थका स्वरूप बताया है और उसी को माननेसे इष्ट सिद्धि होती है,किंतु देखा,देखो जहाँ उस पदार्थ के स्वरूपमें विकार होता है तो वह ढोंग स्वरूपमें परिणत हो जाता है और वैसा होनेसे इष्ट सिद्धिका द्वार भी बंद हो जाता है

दशमी शताब्दीके पहिलेके जितने भी जैन ग्रंथ हैं उनमें भगवान महावीरके वचनोंकी रक्षा की गई है। जहां जरा भी शिथिलाचारकी मात्रा देखी है उसकी तत्काल समालोचना कर डाली गई है,वहांपर इस प्रकारका लिहाज नहीं किया है कि ये महाराज आचार्य है अथवा बड़े मुनि है। क्योंकि वहांपर धर्मकी रक्षाकी चिन्ता थी। वहांपर व्यक्तित्वका कोई प्रभाव न था। आचार्य गुणभद्रने गावके समीप ठहरनेवाले मुनियोंको मृगोंके समान डरपोंक कह दिया, हद हो गई। देवसेन सूरिने काष्ठासंघ माथुर संघ आदिको जैनाभास तक कह डाला। क्या काष्ठा संघ और माथुर आदि संघमें नामी विद्वान नहीं हुए? क्या जैन समाजमें

पद्मपुराण हरिवंश पुराण प्रभृति काष्ठा संघ आदिके ग्रन्थोका प्रचार नहीं ? परन्तु बात उनके ऊंचे व्यक्तित्व और विद्वत्ताकी न थी वहा तो मुनियोके प्राणस्वरूप चारित्रमे शिथिलता सह्य न थी इसीलिये इन संघोमें चरित्रकी शिथिलता देख इन्हें जैनाभास कहने मे भी किसी प्रकारका संकोच नहीं किया गया यह बात एक बहुत बडा महत्त्व रखती है।

चर्चासागर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं। अनेक ग्रंथोंके आधारसे उसका सकलन किया गया है। जो ग्रथ पूर्वापर विरोध रहित है तथा जैनधर्मके असली स्वरूपके प्रतिपादक है उन ग्रन्थोंके जो प्रमाण चर्चासागरमें दिये हैं उन पर किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं—उन ग्रन्थोंकी प्रमाणीकता रहनेसे उन ग्रन्थोके आधारसे जो बात चर्चा-सागरमें लिखी है वह प्रमाणीक ही हैं। किन्तु जिन ग्रन्थोंके कथन में पूर्वापर विरोध है। समयकी खूबीसे जिनमे परमतकी धर्म विरुद्ध बातोंको जैनधर्मका रूप दिया गया है अर्थात् परमतकी धर्म विरुद्ध बातोंको जैनधर्मका रूप देनेके लिये उनकी नकल की गई है। अतएव जो जैनधर्मके असली स्वरूपको भ्रष्ट करनेवाले हैं उन ग्रन्थो को प्रमाण मान उनके आधारसे जो चर्चासागरमें बातें लिखी गई हैं वे कभी प्रमाणीक नहीं मानी जा सकतीं तथा उतना अंश चर्चा-सागरका भी प्रमाणीक नहीं हो सकता इस रूपसे समस्त चर्चासागर प्रमाण कोटिमें नहीं आ सकता। जो महानुभाव चर्चासागरके समस्त अंशको प्रमाण मानते हैं वे गलती पर हैं और वह खोटा पक्ष ले कर जैनधर्मकी निर्मलताको नष्ट करना चाहते हैं।

भाई रतनलालजी द्वारा चर्चासागरकी जिन बातों पर आपत्ति की गई है। वे सभी बातें दूसरोंकी नकल है। वरिनिर्वाण सं० ८५० से श्वेताम्बर साधुओंमें मंदिर मार्गकी प्रथा शुरू हुई थीं। वे लोग मन्दिरोंमें रह निकले थे। और मन्दिरोंमे रहनेकी पुष्टिमें श्वेताम्बर साधुओंने बहुतसे ग्रन्थ भी बना डाले थे। उनकी देखा देखी दिगम्बर जैन मुनियोंमे भी यह रोग फैला। कुछ दिन बाद जो दि० जैन ग्रन्थ बने उनमें भी मुनियोंका मन्दिरोंमें रहना पुष्ट किया गया। उन शिथिलाचारी व्यक्तियोंके बनाये ग्रन्थोंसे चर्चासागरमें मुनियोंका जन मन्दिरोंमें रहना बताया गया है जो कि कभी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थोंके कर्त्ता पूज्य आचार्यों ने उनका रहना पर्वतकी गुफा शिखर नदी तट आदि स्थानों पर ही कहा है। यह बात अनेकानेक प्रमाणोंसे अच्छी तरह खुलासा की गई है। गोबर अनेक जीवोंका पिंड है उसका उपयोग करनेसे अहिंसा धर्म का पालन नहीं हो सकता उस निकृष्ट गोबरसे भगवान जिनेंद्रकी आरती करना चर्चासागरमें लिखा है यह हिन्दूधर्मको नकल की गई हैं क्यों कि हिन्दूधर्ममें गोबर गोमूत्रको अधिक पवित्र अमृत तुल्य माना हैं। यह बात अधिकतर प्रतिष्ठा पाठोंमें दीख पड़ती है। प्रतिष्ठापाठो के कर्ता प्रायः हिन्दूधर्मके पक्षपाती ब्राह्मण हुए हैं। उनके द्वारा वैसा लिखा जाना स्वाभाविक हैं इसी प्रकार श्राद्ध, पिंडदान, तर्पण, गोदान, भूमिदान, कन्यादान, प्राणायाम, आचमन आदि बातें भी परमत की हैं शिथिलाचारी जैन पंडितों ने उनको नकल की हैं और जैनधर्मका रूप देनेकी चेष्टा की है। इन

वातोंका चर्चासागरमें वर्णन किया है। देवोंको मासाहारी बत-लाना। माला और आसनोंको ही सर्वस्व मानकर उनका बुराभला फल कहना पूजा और ध्यानका तत्व न समझना। प्रायश्चितका स्वरूप पूर्वाचार्यों के मतानुसार न कहना आदि धर्मविरुद्ध वातोंका भी चर्चासागरमें बडे विस्तारसे विधान किया है। इन वातोंके विधानसे आडम्बर रहित निर्मल जैन धर्मको आड-म्बरी धर्म सिद्ध किया गया है, जिससे कि जैनधर्मकी असलि-यती कभी कायम नहीं रह सकती। इस प्रकार इन धर्म विरुद्ध वातोंका चर्चासागरमे विधान रहते उसे प्रमाण कहना सरासर धोखा देना है।

चर्चासागरके विरुद्धमें जिस समय आवाज उठी थी, बुद्धि मानी इसीमें थी कि बडी शान्तिके साथ यह बात मिटा दी जाती और समाजको क्षुब्ध होनेका मोका न दिया जाता। परन्तु जिन लोगोंके सामने यह विषय रक्खा गया उन्होंने बुद्धिमानीसे काम नहीं लिया। कलकत्तामें पंडित मक्खनलालजीसे चर्चा-सागरके विषयमें भाई झांझरीजीने कुछ पूछा तो पंडितजीका माथा एकदम गरम हो गया यदि उस समय उनके पास उत्तर न था तो शांतिसे झाझरीजी आदिको संतुष्ट कर देना था। परन्तु उन्होंने अंडबंड बोलना शुरु कर दिया। उस समय जिन उप-स्थित विद्वानोंने विरोध किया उन्हें भी मूर्ख और अज्ञानी कहा गया। जब उपस्थित विद्वानोने पंडितजीके सामने उपस्थित होकर अपनी मूर्खता और अज्ञानिताकी परीक्षा करानी चाही तो

पंडितजीने मुंह छिपा लिया मैदान छोड़कर पलायांचक्के हुए। ऊपरसे तो यह जान पड़ा कि पंडितजी अब शांत हैं। इस बात-को न उठावेंगे परन्तु वह पराजयकी अग्नि ईंटकी अग्निके समान उनके हृदयमे बराबर धधकती रही और दो मास बाद वह चर्चा सागरपर शास्त्रीय प्रमाण इस ट्रैक्टके रूपमें जोरसे जल उठी। जो बातें चर्चासागरमें भ्रष्ट थीं उन्हें पंडितजी भ्रष्ट कह देते तो भी सन्तोष था अथवा उनकी पुष्टिमें मान्य प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाण देते तो भी ठीक था परन्तु उन भ्रष्ट बातोंका पंडितजीने मंडन किया, प्रमाण भी प्राय: उन ग्रन्थोंके दिये जो ग्रन्थ जैन समाजमें बहिष्कृत हैं—समाज उनका नामतक लेना नहीं चाहता। यदि मान्य ग्रन्थोंके कुछ वचन पंडितजीने उद्धृत किये हैं तो उनका तात्पर्य नहीं समझा है। आदिपुराण, राजवार्तिक आदि सबोंका भाव उलटा समझ लिया है। तिसपर भी चर्चासागरके विरोधी लोगोंको जगह २ गाली दीं हैं सार यह है कि पं० मक्खनलाल-जीने एक सारहीन पोथा निकाल कर जन धनकी शक्तिको छिन्न भिन्न कर डाला है। हमें पंडितजीसे कोई द्वेष नहीं और न संपादक सहायक प्रेरक और प्रचारकोंसे हमारा वैमनस्य है क्यों-कि ये सभी महानुभाव हमारे मान्य और बडे हैं। द्वेष हमें जैन धर्मको विपरीत बातोंकी पुष्टिसे है। चर्चासागरमें दि० जैन-धर्मके विपरीत बातोंकी पुष्टि की हैं। तिसपर भी दूसरोंको नीचा दिखाते हुए पं० मक्खनलालजीने उस धर्म विरुद्ध पुष्टि-की और प्रमाणाभासोंसे और भी पुष्टि कर बड़ा अनर्थ कर डाला

है जिसे कोई भी सच्चा जैनी सहन करनेके लिये तैयार नहीं। इसी लिये हमें इस ट्रैक्टके लिखनेके लिये प्रयास करना पडा है। अहंकारवश किसीको नीचा दिखाना हमारा भाव नहीं। भाई मक्खनलालजीके कटुक शब्दोंकी तो हमे अवश्य समालोचना करनी पडी है पर वहापर भी जो हमने लिखा है वह पंडितजीके शब्दोंका उत्तरमात्र है, कषायभावसे प्रेरित हो हमने वैसा नहीं लिखा। हम तो पं० मक्खनलालजीको अपना परम उपकारी समझते है जिनकी कृपासे हमें सैकडों शास्त्रोंके देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ अनेक विषयोंपर विचार करनेका मौका मिला। तथा इन धर्म विरुद्ध बातोंपर विचार करनेका भी अवसर प्राप्त हुआ यदि पंडितजी इन भ्रष्ट बातोका पक्ष न लेते तो आगे जाकर महा अनर्थ होनेकी संभावना थी। यदि वे ट्रैक्ट न लिखते और खास रुपसे हमें न छेडते तो इस विशेष ज्ञान प्राप्तिका सौभाग्य हमें कहा मिलता ?

चर्चासागर ग्रंथको भी हम परम उपकारी मानते हैं जिसकी कृपासे हमें जैन ग्रंथोंमें भी असली नकलीपनका पता लग गया यद्यपि स्वनामधन्य आचार्यकल्प पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशमे शिथिलाचार जैनधर्मको पवित्रताका अत्यन्त घातक है इस विषयपर अच्छा प्रकाश डाला है तथापि वह हमने पढ़ा ही था अनुभवमें नहीं लिया था परन्तु चर्चासागरकी कृपासे वह बात अनुभवमें भी आ गई। हमें यह खूब मालूम हो गया कि प्राचीन आचार्योंके नामसे शिथिलाचारियोंने ग्रंथ निर्माणकर उनमें

धर्म विरुद्ध बातोंका कैसा २ भयकर समावेश कर डाला है! विचारशीलोंकी दृष्टिमे अब चर्चासागर ही वहिष्कृत नहीं किन्तु जिन भ्रष्ट ग्रन्थोंके इसमें प्रमाण दिये हैं वे ग्रंथ भी अब वहिष्कृत समझे जाने लगे हैं यदि चर्चासागरका इस प्रकार प्रचार न होता तो उन भ्रष्ट ग्रन्थोंकी पोल न खुलती। चर्चासागरके इस वहिष्कारसे सचमुचमें जैन सिद्धान्तकी बड़ी भारी रक्षा हुई है जिस बलिदानसे धर्मकी रक्षा हो वह वलिदान वडा ही महत्वशाली है। भगवान निकलंकदेव-का वलिदान भी इसी लिये महत्वशाली था कि उससे परमपावन जैनधर्मकी रक्षा हुई थी। चर्चासागरके वहिष्कार वा वलिदानसे जैन सिद्धांतकी वहुत बड़ी रक्षा हुई है इसलिये यह वलिदान भी बडा ही महत्वपूर्ण है। भोले लोग इसके वलिदानका महत्व न समझे तो उनकी भूल है। उन्हें इसके वलिदानका तत्व समझना चाहिये और उसका मनन करना चाहिये। पवित्र जैन सिद्धांतकी रक्षा ही सर्वस्व है।

यद्यपि हमने इस ट्रैक्टके लिखनेका प्रयोजन स्पष्ट कर दिया है तथापि निजानुभवसे हमें यह जान पड़ता है कि पं० मक्खनलालजीकी प्रकृति हमपर प्रसन्न होनेमें संकोच करेगी इसलिये हमारी उनसे यह नम्र प्रार्थना है कि वे हमारे लिखे और अपने लिखे प्रमाणोंपर शात चित हो विचार करें। आशा है हमारी प्रार्थना पर वे अवश्य ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

नम्र निवेदन

प्रायः मुख्य मुख्य नगरोंकी पंचायतियों एवं अनेक विद्वान और धनी मानी सज्जनोंने इस चर्चासागरका जोरोंसे बहिष्कार किया है वे तो इस ट्रैक्ट पर अपनी सम्मति भेजेंगे ही परन्तु जिन पंचायतियों या विद्वानों और श्रीमानोंने अब तक इस ग्रन्थका बहिष्कार न किया हो वे इस ट्रैक्टको भली भांति मननकर और विचार कर शीघ्र अपनी सम्मति भेजनेकी कृपा करें।

विनीत—

रतनलाल झांझरी।